अवतार कृष्ण राज़दान : जन्म 23 मई, 1942 (श्रीनगर, कश्मीर)।

लेखक के अपने शब्दों में 'प्रकृति की क्रूरता का शिकार बनकर एक अपाहिज का जीवन व्यतीत करने पर विवश'। कश्मीरी और हिंदी में लेखन। कई पुस्तकें प्रकाशित : सौगात (कहानी संग्रह), एल.बी.डब्ल्यू. (कश्मीरी कहानियों का संकलन), कश्मीरी लोक कलायें, कश्मीर की सैर आदि। अधिकांश कहानियां, अन्य साहित्य [illegible] कश्मीरी, पंजाबी, गुजराती, तमिल, तेलगु, बंगाली तथा मलयालम में अनूदित। 50 से अधिक कश्मीरी रचनाओं का हिन्दी में अनुवाद भी किया है। हिंदी की प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं में, समय समय पर अनेक लेख एवं कहानियां प्रकाशित। 20 से अधिक रेडियो नाटक तथा अनेक रेडियो वार्तायें प्रसारित। दो नाटक भी छपे हैं। अनेक संस्था-संस्थानों से सम्मानित, पुरस्कृत। इनमें उल्लेखनीय हैं जम्मू-कश्मीर [illegible] कला, संस्कृति एवं साहित्य अकादमी; राष्ट्रभाषा प्रचार समिति; उ. प्र. हिन्दी संस्थान; और जम्मू भाषा (जम्मू)।

सम्प्रति, लेखक के शब्दों में 'भू-स्वर्ग कश्मीर में [illegible] आतंकवाद से (जान बचाकर) जम्मू-कश्मीर राज्य के जम्मू नगर में एक शरणार्थी के रूप में रह रहे हैं। लेकिन साहित्य साधना जारी।

संपर्क सूत्र : 40 डी, पाकेट-बी, ग्रुप 33, दिलशाद गार्डन, [illegible] डी. 01, दिल्ली
अथवा मकान न. 68, सेक्टर 3, त्रिकूटा नगर जम्मू (तवी)-180 012

सहयोग प्रकाशन
7/1 पंत नगर, जगपुरा [illegible]
ISBN 81-86029-02-8

आतंक बीज

3386
3386

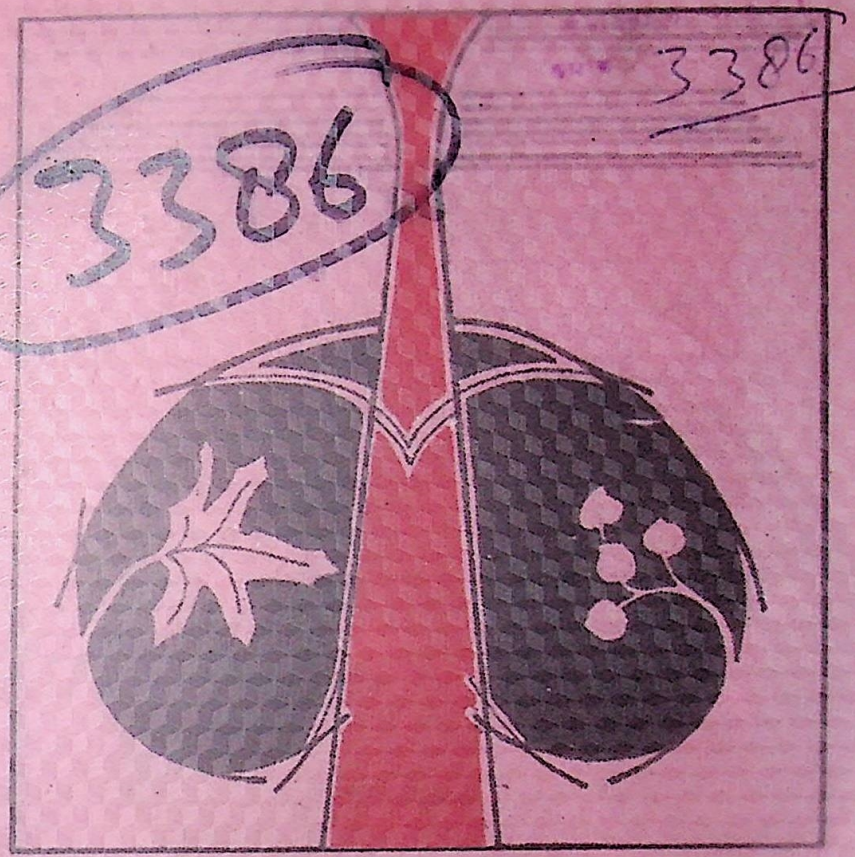

आतंक बीज

अवतार कृष्ण राज़दान

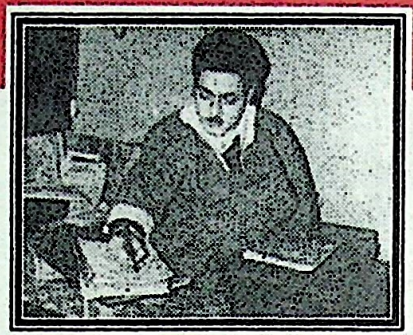

अवतार कृष्ण राज़दान : जन्म 23 मई, 1942 (श्रीनगर, कश्मीर)।

लेखक के अपने शब्दों में 'प्रकृति की क्रूरता का शिकार बनकर एक अपाहिज का जीवन व्यतीत करने पर विवश'। कश्मीरी और हिंदी में लेखन। कई पुस्तकें प्रकाशित : **सौगात** (कहानी संग्रह), **एल.बी.डब्ल्यू.** (कश्मीरी कहानियों का संकलन), **कश्मीरी ललित कलायें, कश्मीर की सैर** आदि। अधिकांश कहानियां, अन्य भारतीय भाषाओं– डोगरी, पंजाबी, गुजराती, तमिल, तेलगु, बंगाली तथा मलयालम में अनुदित। 50 से अधिक कश्मीरी रचनाओं का हिन्दी में अनुवाद भी किया है। हिंदी की सुप्रसिद्ध पत्र–पत्रिकाओं में, समय समय पर अनेक लेख एवं कहानियां प्रकाशित। 20 से अधिक रेडियो नाटक तथा अनेक रेडियो वार्तायें प्रसारित। दो नाटक भी छपे हैं। अनेक सभा–संस्थानों से सम्मानित, पुरस्कृत। इनमें उल्लेखनीय हैं जम्मू–कश्मीर ललित कला, संस्कृति एवं साहित्य अकादमी; राष्ट्रभाषा प्रचार समिति; उ. प्र. हिन्दी संस्थान, और राष्ट्र भाषा (जम्मू)।

सम्प्रति, लेखक के शब्दों में 'भू–स्वर्ग कश्मीर में बढ़ते हुए आतंकवाद से (जान बचाकर) जम्मू–कश्मीर राज्य के जम्मू नगर में एक शरणार्थी के रूप में रह रहे हैं।' लेकिन साहित्य साधना जारी।

संपर्क सूत्र : 40 डी, पाकेट–बी, ग्रुप 33, दिलशाद गार्डन, एम.आई.जी. 01, दिल्ली·
अथवा मकान न. 68, सेक्टर 3, त्रिकूटा नगर, जम्मू (तवी)–180 012

सहयोग प्रकाशन
7/1 पंत नगर, जंगपुरा, नई दिल्ली-110 014
ISBN 81-86029-02-8
Rs. 75/-

आतंक बीज

अवतार कृष्ण राज़दान

आतंक बीज

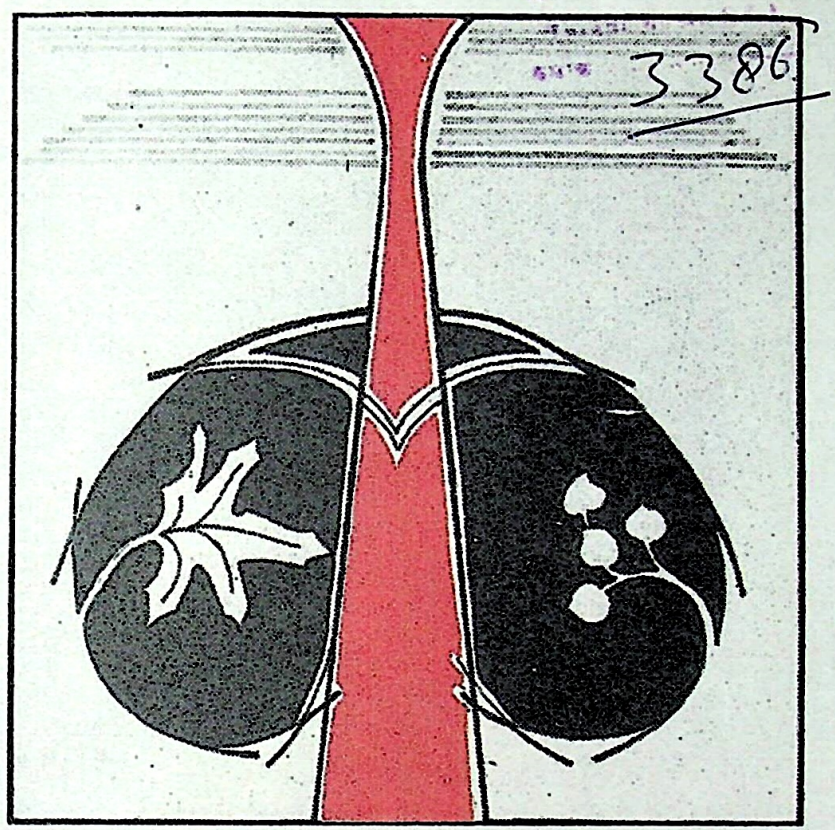

3386

अवतार कृष्ण राज़दान

ज्ञान गंगा

सचिव प्रकाशन संस्थान

सचिव प्रकाशन संस्थान

अवतार कृष्ण राज़दान : जन्म 23 मई, 1942 (श्रीनगर, कश्मीर)।

लेखक के अपने शब्दों में 'प्रकृति की क्रूरता का शिकार बनकर एक अनाहिज का जीवन व्यतीत करने पर विवश'। कश्मीरी और हिंदी में लेखन। कई पुस्तकें प्रकाशित : सौगात (कहानी संग्रह), एल.बी.डब्ल्यू. (कश्मीरी कहानियों का संकलन) **कश्मीरी ललित कलायें, कश्मीर की सैर** आदि। अधिकांश कहानियां अन्य भारतीय भाषाओं– डोगरी, पंजाबी, गुजराती, तमिल, तेलगु, बंगाली तथा मलयालम में अनुदित। 50 से अधिक कश्मीरी रचनाओं का हिन्दी में अनुवाद भी किया है। हिंदी की सुप्रसिद्ध पत्र–पत्रिकाओं में, समय समय पर अनेक लेख एवं कहानियां प्रकाशित। 20 से अधिक रेडियो नाटक तथा अनेक रेडियो वार्तायें प्रसारित। दो नाटक भी छपे हैं। अनेक सभा–संस्थानों से सम्मानित, पुरस्कृत। इनमें उल्लेखनीय हैं जम्मू–कश्मीर ललित कला, संस्कृति एवं साहित्य अकादमी, राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, उ. प्र. हिन्दी संस्थान, और राष्ट्र भाषा (जम्मू)।

सम्प्रति, लेखक के शब्दों में 'भू–स्वर्ग कश्मीर में बढते हुए आतंकवाद से (जान बचाकर) जम्मू–कश्मीर राज्य के जम्मू नगर में एक शरणार्थी के रूप में रह रहे हैं।' लेकिन साहित्य साधना जारी।

संपर्क सूत्र : 40 डी, पाकेट–बी, ग्रुप 33, दिलशाद गार्डन, एम.आई.जी. 01, दिल्ली
अथवा मकान न. 68, सेक्टर 3, त्रिकूटा नगर, जम्मू (तवी)–180 012

आतंक बीज

आतंक बीज

अवतार कृष्ण राज़दान

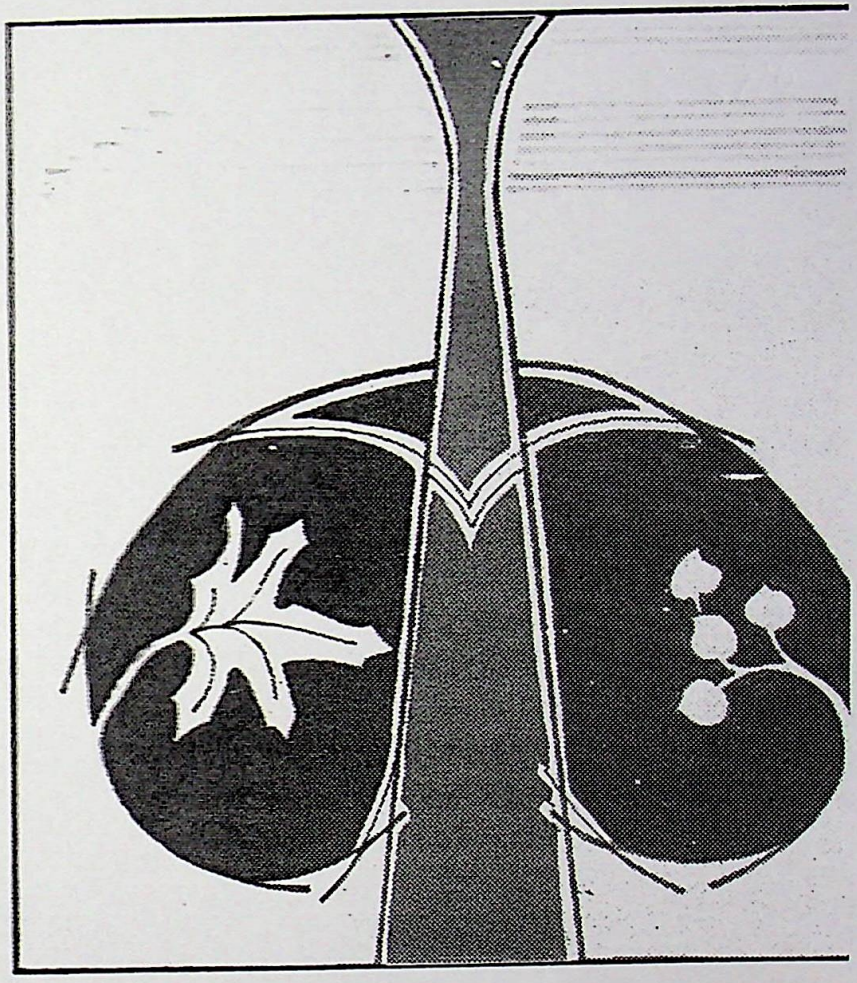

सहयोग प्रकाशन
7/1 पंत नगर, जंगपुरा, नई दिल्ली-110 014
ISBN 81-86029-02-8
Rs. 75/-

SP

अवतार कृष्ण राज़दान

आतंक बीज

अवतार कृष्ण राज़दान

की

बीस कहानियों का संग्रह

आतंक बीज

© अवतार कृष्ण राज़दान

प्रथम संस्करण : 1994

सर्वाधिकार सुरक्षित

प्रकाशक : **सहयोग प्रकाशन**
(सहकारिता के आधार पर प्रकाशन का एक उद्यम)
7/1 पंत नगर, जंगपुरा
नई दिल्ली–110 014

ISBN 81-86029-02-8

लेज़र टाइपसेटिंग : **प्रिन्ट मीडिया**
एस–20 ए, स्कूल ब्लाक, शकरपुर
दिल्ली–110 092.

मुद्रक : अरोड़ा ऑफसेट प्रैस
817 ए गुरू राम दास नगर एक्सटेन्सन
लक्ष्मी नगर, दिल्ली–92

आवरण रेखांकन : पृथ्वी नाथ काचरू

डिजाइन : वन्दना सक्सेना

मूल वितरक : **खामा पब्लिशर्स**
21/D, निवेदिता एनक्लेव
A-6 पश्चिम विहार
नई दिल्ली–110 063

मूल्य : 75 रूपये

AATANK BEEJ BY AVTAR KRISHAN RAZDAN

समर्पण

गत् पांच वर्षों से
नन्दन कानन कश्मीर में
गुमराह इस्लामी जेहाद के जुनूनियों ने
हज़ारों बेगुनाह कश्मीरियों का,
विशेषकर निर्दोष अल्प संख्यकों का,
कत्ले आम किया
उन्हीं
शहीद सहोदरों को
सादर समर्पित!

कथा-क्रम

क्रम सं.		पृष्ठ संख्या
एक	प्रतिरोध का प्रतिबिंब	21
दो	एल.बी.डब्ल्यू.	26
तीन	मनः स्थिति का पिशाच	31
चार	सफर	35
पांच	ज़रूरत	40
छः	अप–शकुन	54
सात	आपने मुझे नहीं पहचाना	61
आठ	ज़ख्म	68
नौ	टूटने से पहले	78
दस	दिल उछला देखने	89
ग्यारह	स्थितियों का रूप	94
बारह	गाली	102
तेरह	माँ	109
चौदह	गोली का डर	115
पंद्रह	आतंक–बीज	123
सोलह	फड़कती आंख	132
सत्रह	विष और अमृत	137
अठारह	कंप्यूटर	143
उन्नीस	सीमा	147
बीस	टूरिस्ट	152

प्रकाशकीय वक्तव्य

'सहयोग प्रकाशन' संभवतः, सहकारिता के सिद्धान्तों पर, प्रकाशन का कार्य करने वाला, राजधानी दिल्ली का पहला प्रकाशनघर है। इसके जन्म की संक्षिप्त कहानी कुछ यूं है:

कुछ मित्र आपस में बैठकर प्रायः हर विषय पर चर्चा किया करते थे। यह कोई नई बात नहीं है, बल्कि एक आम बात है। लेकिन एक दिन जब बातों का रिपिटेशन करते करते हम अघा गए तो कुछ ठोस काम करने की सूझी। यह एक नई बात थी। इस तरह एक ऐसे प्रकाशन–घर की स्थापना की परिकल्पना ने जन्म लिया जो किसी एक व्यक्ति या उसके परिवार की संपत्ति न हो, बल्कि जो एक सहाकरी समिति की संतान हो!

इसके बाद शुरू हुई सहकारी समिति के आधार पर एक प्रकाशन–घर स्थापित करने की भाग–दौड़, जो सहयोग प्रकाशन, कोआपरेटिव इंडस्ट्रियल (प्रोडक्शन) सोसायटी लिमिटेड के नाम से पंजीकृत होने पर खत्म हुई। और इस तरह 15 सदस्यों की सहकारी समिति ने 'सहयोग प्रकाशन' को जन्म दिया। इन सदस्यों में पत्रकार, मुद्रण–विशेषज्ञ, शिक्षक, श्रमजीवी और अन्य बन्धु शामिल थे।

मार्च–1992 में 'सहयोग प्रकाशन' के पंजीकृत होने के बाद इस प्रकाशनघर ने लगभग आधी दर्जन पुस्तकें छापी जो अंग्रेजी भाषा में विभिन्न विषयों पर थीं।

'आतंक बीज' हमारा पहला हिन्दी प्रकाशन है। इस कहानी संग्रह ने हमें हिन्दी भाषा, कोटि कोटि भारतवासियों की भाषा से जोड़ा है। इसपर हमें गर्व है। यह गर्व दुगुना हो जाता है इस बात से कि इसके

संग्रह में संग्रहीत कथाओं का लेखक एक ऐसा साहित्यकार बंधु है जो विकलांग होने की त्रासदी झेल रहा है, लेकिन जिसने इस त्रासदी के सामने हथियारं नहीं डाले हैं, बल्कि एक फौलादी इरादा लेकर संघर्षरत है। इस संघर्षशील, दृढ़वृती लेखक का नाम है अवतार कृष्ण राज़दान!

लेखक ने इस संग्रह का नाम रखा था 'दिल उछला देखने'। लेकिन कई मित्रों से विचार–विनिमय के बाद 'आतंक बीज' का नाम अधिक समयोचित लगा। आतंकवाद हमारे वर्तमान जीवन की एक क्रूर, किन्तु ठोस हकीकत बनकर सामने आया है। इसी आतंकवाद ने धरती के स्वर्ग कश्मीर को एक़ दहकता नर्क बनाया है; और अवतार कृष्ण राज़दान, इसी नृशंस आतंकवाद का चश्मदीद गवाह है, जो लाखों कश्मीरियों, विशेषकर अल्पसंख्यक कश्मीरियों की तरह, अपने ही देश में एक शरणार्थी का जीवन् जी रहे हैं कश्मीर में सब कुछ खोकर!

'सहयोग प्रकाशन' को इस बात का अपार हर्ष है कि यह एक ऐसे लेखक बंधु के कहानी संग्रह से हिन्दी के क्षेत्र में पदार्पण कर रहा है जिसने साहित्य साधना को अपने पंगु जीवन का न केवल लक्ष्य बनाया है, बल्कि लेखन को सामान्य जनजीवन में व्याप्त कुरूपताओं तथा क्रूरताओं से लड़ने के लिए एक सशक्त हथियार भी बनाया है। 'आतंक बीज' में संग्रहीत कहानियां इसकी गवाह हैं।

'सहयोग प्रकाशन' के परिवार में अवतार कृष्ण राज़दान का स्वागत करते हुए हम तमाम प्रबुद्ध पाठकों, कर्मठ साहित्यकारों और पुस्तक प्रकाशन में संलग्न सभी बंधुओं सें अनुरोध करते हैं कि वे प्रकाशन के क्षेत्र में सहकारिता के हमारे इस नवीन प्रयास में यथाशक्ति अपना योगदान प्रदान करें!

ओंकार काचरू
कृते सहयोग प्रकाशन

पूर्व-निवेदन

आज तक मुझे कई बार पूछा गया कि आखिर जो कुछ भी मैं लिखता हूँ, वह किसके लिए है, आम आदमी के लिए या किसी खास एलीट बुद्धि–जीवी के लिए? पहले तो मेरे लिए इसके बारे में कहना मुश्किल हो गया क्योंकि प्रश्न आम और खास के बीच की खाई में जकड़ा हुआ था। फिर भी एक पत्रिका के लिए, लिए गए 'इण्टरव्यू' में जब प्रश्नकर्त्ता ने एक बार फिर मुझसे यही प्रश्न किया तो मैंने झट से कहा कि न मैं आम आदमी के लिए लिखता हूँ , न हीं किसी खास एलीट बुद्धिजीवी के लिए! मैं तो लिखता हूँ उस बुद्धिजीवी के लिए जो मेरी ही तरह अनुभव–सम्पन्न हो तथा इस आशा के साथ लिखता हूँ कि वह समय भी आए जब मेरी बात मेरे लेखन के माध्यम से अधिकाधिक पाठकों तक पहुंचे। यही कारण है कि मेरी जो अपनी बात है, उसकी प्रासंगिकता को मैं कहानी के माध्यम से रेखांकित करता हूँ ! मैंने अपने इस माध्यम् को खेमे या वादों की विचारधारा से मुक्त रखा है क्योंकि मेरी मान्यता है कि इससे न सफल कहानी की रचना होती है, न ही एक अच्छी कविता सामने आती है। यहां तक कि इससे एक सफल नारा भी नहीं बन सकता। जहां तक मैं समझता हूँ, इससे तो एक लेखक ' एक्सपोज़' हो जाता है। बस, इसके सिवाय कुछ नहीं। दरअसल वजह यह है कि लेखन में धोखाधड़ी नहीं चलती, चाहे वह साहित्य का कोई भी माध्यम हो। कहानी और कविता इसके साथ खासतौर से जुड़ी हुई है। इसका प्रमुख कारण यह है कि दोनों के कथ्य लेखक के व्यक्तित्व को, अथवा उसकी सोच, उसके चिन्तन तथा उसके इन दोनों के साथ सरोकार को अभिव्यक्त करता है। इसी बुनियादी शर्त को लेकर मैं सन् १९६८ से कहानी को सांस लेने की तरह, सहज, स्वाभाविक एवं नियमित रूप से रचता रहा हूँ और यही

कारण है कि आज तक इस रचना–प्रक्रिया में मैंने कोई ढील नहीं आने दी क्योंकि आस–पास के जिस परिवेश में रहकर मैं सांस लेता हूँ, मेरे मन पर शायद यह उसी का दबाव है या यूं कहें कि इस पर तनाव की सृष्टि हो गयी है कि इसको हल्का करने के लिए मेरे कलम की नोक से कहानी की रचना होती है। हर कहानी की रचना करने के बाद मैं सोचता हूँ कि कहानी चूँकि व्यक्तिगत होती है, सार्वजनिक भी, तो क्या इसकी पाठक या श्रोता तक पहुंचकर प्रासंगिकता प्रमाणित होती है! कहानी के माध्यम से मेरी कही बातें, अथवा इनमें व्यक्त विचार क्या पाठकों के दिल की धड़कन बन सकती है? क्यों नहीं, इस प्रश्न का उत्तर मैं स्वयं देता हूँ क्योंकि पाब्लां नेरुदा के अनुसार लेखक समाज का प्रतिनिधि होता है और उसके कर्म की सार्थकता का सीधा सम्बन्ध तो उसकी रचना की प्रासंगिकता पर निर्भर करता है।

'सौगात' के बाद 'दिल उछला देखने' शीर्षक में प्रस्तुत कहानी-संग्रह की सभी कहानियों को मैंने कश्मीरी में लिखा हैं, जिनमें से कुछ एक कहानियां जम्मू–कश्मीर ललित कला, संस्कृति व साहित्य अकादमी के द्विवार्षिक पत्रिका 'शीराजा' (कश्मीरी) में छपी हैं। इनका हिन्दी अनुवाद भी मैंने स्वयं किया है जो समय–समय पर अखिल भारतीय पत्र–पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रहीं हैं। प्रस्तुत कहानी–संकलन को आपके सामने दो वर्ष पूर्व पेश करने का विचार था किन्तु आर्थिक कठिनाइयों के कारण मैं ऐसा न कर सका और सब से बड़ी बात तो यह है कि मैं बाल्यकाल से ही एक अपाहिज का जीवन व्यतीत करने पर विवश हूँ। मेरे दिन बे–जान टांगों की बदौलत घर की चार दीवारी में ही व्यतीत होते हैं और इस तरह से मेरी जो दुनिया है, वह सीमित रह गयी है। फिर भी मेरे जीने का सफ़र जारी है। अपनी इस सीमित दुनिया में रहकर भी, मैंने अपना एक अलग स्थान बनाकर, इसके लिए लेखन–मार्ग को ही अपना लिया और जितना मुझसे हो सकता, मैं कश्मीरी और हिन्दी साहित्य की सेवा करता हूँ।

प्रस्तुत संकलन की सभी कहानियों में मैंने नन्दन–कानन कश्मीर के जन–जीवन, यहां की संस्कृति, कला और सौंदर्य को यथा संभव रूपायित–दिव्य दर्शित करने की कोशिश की है जिसके लिए यह

सुन्दर घाटी संसार-प्रसिद्व है। साथ ही इन कहानियों में अपने सोच, अपने चिन्तन तथा इन दोनों के साथ अपने सरोकार को नपे–तुले शब्दों में चित्रित कर, इनमें एक नई रूह फूंक डालने का प्रयास किया है। यह सच है कि मैं अपने घर की चारदीवारी में एक कैदी की तरह जीवन जी रहा हूँ। किन्तु जब मैं लेखन में जुट जाता हूँ तो मुझे एकदम महसूस होता है कि इस कमरे की खिड़कियों में से चारों दिशाओं से हवा आकर किस ओर जाती है! क्या ये खिड़कियां बन्द–बदबूदार गली की ओर खुलती हैं या उस ओर,जहाँ से ताजी हवा और पर्याप्त धूप आती है? वस्तुतः सत्य यही है कि मेरे लिए इन सभी खिड़कियों में से देखना जरूरी बन गया है क्योंकि मेरी हर समय यह मान्यता रही है कि एक लेखक के नाते, मुझे अपने लेखन के माध्यम से हर चीज के भले–बुरे पक्ष को चित्रित करना है जिसके फलस्वरूप मैं समाज की ही नहीं, बल्कि समूची दुनिया की परिक्रमा कर सकूं।

एक लेखक की समूची निधि उसकी रचनाएं होती हैं किन्तु कल्पना कीजिए कि जब उसका घर जल जाए, जहां उसने इनको करीने से अपनी निजी पुस्तकालय में सजाए हों, उस समय उसकी हालत क्या होगी। इस वर्ष भगवान ने मुझ पर इसी तरह का कुचक्र चलाया। कश्मीर में मेरा घर जल गया और वह भी गुमराह नवजवानों के हाथों से। गत् पच्चीस वर्षो से मेरा बसा–बसाया साहित्य–संसार एकदम अंधेरे के वीराने में बदल गया। मेरी सारी रचनाएँ जलकर राख हो गयी। यह तो मेरा सौभाग्य है कि प्रस्तुत संकलन की सभी रचनाएँ अखिल भारतीय पत्र–पत्रिकाओं में छप गयी थीं जिसके परिणामस्वरूप, मैं इनको अपने साहित्य–मित्रों तथा संबंधित पत्र–पत्रिकाओं की कार्यालयों से इकट्ठा करने में सफल हो पाया। यदि ऐसा न होता तो प्रस्तुत संकलन पेश करने की कोई गुंजाइश न थीं।

दिल उछला देखने शीर्षक के इस कहानी–संकलन में, मैंने अपनी सभी कहानियों का संचयन इनकी लोकप्रियता व उत्तमता के आधार पर किया है। ये वही कहानियां हैं जिनका अनुवाद पंजाबी, गुजराती, मराठी, तमिल, तेलगु, मलयालम और अंग्रेजी में हुआ है। संबंधित प्रदेशों

के पाठकों और रचनाकारों ने इनको सराहा है। कश्मीरी–कहानी का जीवन–इतिहास बहुत कम होने पर भी यह आगे की ओर बढ़ता जा रहा है। प्रस्तुत कहानियों में, मैंने यथा संभव अपने आस–पास से कथ्य और पात्र चुनने की कोशिश की है। यहां तक कि अपने परिवेश से रच–पच व एकात्म होकर, मैंने जो कुछ भी देखा या सुना, उसको अपनी इन कहानियों में चित्रित करने का प्रयास किया है। नए प्रयोग के तौर पर **'दिल उछला देखने'** शीर्षक की कहानी में इसका कथ्य उन मुहावरों से आगे बढ़ता है जो दिल से संबंधित है और इसका अंत इस तरह किया गया है कि जिस दिल के दर्द को छूने की कोशिश की गयी है, वह दर्द तो इसके अन्दर दर्द बनकर ही रहता है। दर्द का मारा दिल हमेशा तड़पता ही रहेगा किन्तु उस बगीचे का क्या सोचा जहां कितने रंगों के, कितनी ही गन्धों के कितने ही फूल होते हैं। सब देखने में अच्छे लगते हैं। यों ही अच्छे लगते हैं। मगर इनमें से कोई एक ऐसा भी होता है जो गतिहीनता के कारण एकदम शुष्क दिखाई देता है और जिसकी सुगन्ध ही नहीं होती। इस एक फूल को देखते ही ऐसा लगता कि प्रकृति की देवी ने बगीचे पर अन्याय किया है। यही बात मानव–मात्र के उन प्राणियों पर एकदम सिद्ध होती है जो अपाहिज का जीवन व्यतीत करने पर विवश है। **प्रतिरोध का प्रतिबिंब, एल. बी. डब्ल्यू.** तथा **मनःस्थिति का पिशाच** कहानियों में समय और स्थिति से बंधे हुए समाज के इन्हीं प्राणियों की विवशता का चित्रण किया गया है जिनके साथ हम सबको सहानुभूति होनी चाहिए। किन्तु जहां धूप है, वही छांव भी है। हर किसी को जैसे–तैसे जीवन जीना है और यह जीने के लिए ही है। इसको आनन्दमय बनाने के लिए हम क्या कुछ नहीं करते, यह तो हम ही जानते हैं। **सफ़र** शीर्षक की कहानी हमारी इसी जीवन–यात्रा को रूपायित करती है। यह सत्य है कि इस दुनिया में हर कोई जीवन के सफर पर जाता है किन्तु यह भारतीय नारी के लिए हमेशा से ही जटिल और कष्ट साध्य रहा है। वह तो सदियों से विवशता में तन्मयता अनुभव करती है। हमारी सभ्यता में नारी का महत्वपूर्ण स्थान है। उसने अपने ऊपर कई तरह के कर्त्तव्यपरायणता का भार उठा रखा है। वह हमारी मां है,

बहन है, प्रिया है और सबसे बढ़कर वह हमारी जननी है। इतना सब होते हुए भी पुरुष उस पर हर समय अनावश्यक एकाधिकार रखने की कोशिश करता है। किन्तु इसके साथ ही यह सत्य है कि पुरुष के बिना नारी का अस्तित्व नहीं। यहां तक कि दोनों एक–दूसरे के बिना अधूरे हैं। नर–नारी, शिव–शक्ति, पशु पाशि या अणु–कश्मीरी शैव–दर्शन के महत्वपूर्ण उसूल हैं और इनकी झलक **टूटने से पहले** शीर्षक कहानी में मिलती है। देखना यह है कि जब नर है तो नारी भी है किन्तु दोनों का एक ही समय पर अंत निश्चित है? नहीं, ऐसा संभव नहीं। काल–चक्र एक–दूसरे को बिछुड़कर ही रख देता है और इस सूरत में यदि नर नारी से बिछुड़ जाए तो नारी अन्धविश्वास के खोखले टोटकों से सामना करती है जब कि उसके रूप–लावण्य में अभी कोई फर्क़ नहीं आया है और वह अस्थायी तौर पर अपने को किसी अन्य नर से जोड़ने की कोशिश करती है। हाय! वह ऐसा नही कर पाती। क्यों? **अप-शकुन** शीर्षक कहानी में इसका सही उत्तर मिल सकता है। कभी ऐसा भी होता है कि नर से नारी बिछड़ जाती है और वह भी उस समय जब वह अपने जीवन के आखिरी पायदान पर खड़ा महसूस करता है। उसके बिना उसकी मानसिक हालत क्या होती है, इसका निरूपण **स्थितियों का रूप** शीर्षक कहानी में किया गया है। यह कहानी मानवीय संवेदना के धरातल पर सही उतरती है और जिसको पाठकों ने बहुत पसंद किया है। नारी के सम्बन्ध में कभी यह भी देखा गया है कि उसका अपने इच्छित नर से विवाह न होने पर वह अपने ही पति का उसके साथ एक बार फिर नाता जोड़ने की कोशिश करती है किन्तु अंत में वह पछताती है। उसको लगता है कि विवाह से पूर्व जो नाता उसने उसके साथ रखा था, वह सब छलावा ही तो था। इसी विषय को लेकर नरं का नारी के प्रति एकांकी दृष्टिकोण को **ज़ख्म** शीर्षक कहानी में चित्रित करने का प्रयास किया गया है। ऐसा पता होने पर भी कि वह सुशील है, उसका सुन्दर मुखड़ा है किन्तु इसपर छोटे से काले–काले दाग है। यह जानकर भी कि वह अपने को हद से ज्यादा सजाती है, संवारती है और कई बार शीशे में अपना चेहरा निहारती है। किन्तु उसके चेहरे की असली परिभाषा तो वही है जो दीवाल

पर लगे आदमकद शीशा उसको बताता है, उसपर भी वह मानने के लिए तैयार नहीं कि उसका चेहरा दागदार है। **आपने मुझे नहीं पहचाना** शीर्षक कहानी यही आशय लेकर पाठकों के सामने प्रस्तुत है। आजकल के मध्यवर्गीय परिवार की नारी हर तरह आर्थिक संकट से जूझती रहती है। इस समय वो पुरूषों के साथ–साथ काम करती हैं क्योंकि उसको पैसों की जरुरत है। किन्तु उस सबसे बढ़कर उसकी जरुरत है अपने मुन्ने को पालने–पोसने की। कश्मीर में 'क्रेच' नहीं हैं, इसलिए वह इसका भार अपनी सास द्वारा उठाने की जरुरत महसूस करती हैं फिर क्या होता है–**जरुरत** शीर्षक कहानी में घर के तीन सदस्यों के त्रिकोणीय पक्ष को उभारने की कोशिश की गयी है। यदि हम यह भी कहें कि इसमें एक मध्यवर्गीय परिवार के प्रत्येक सदस्य के अस्तित्व–संघर्ष को कलात्मक ढ़ंग से अभिव्यक्ति दे दी गयी है तो अतिश्योक्ति न होगी। **गाली** शीर्षक कहानी में बच्चों के मनोविज्ञान का निरुपण अत्यन्त कलात्मक ढ़ंग से किया गया है। भारतीय नारी का मां के रूप में आदर है। क्या विदेशों में भी उसकी इसी तरह का सम्मान प्राप्त है। इसका उत्तर **मां** शीर्षक कहानी में मिलता है।

कश्मीर भारत का मुकुट–मणि है। मुगल बादशाह जहांगीर ने कश्मीर में प्रवेश करते ही कहा था कि पृथ्वी पर यदि कहीं स्वर्ग है तो वह यहीं है, यहीं है बस यहीं है। प्रकृति की देवी ने हमारे इस भू–खण्ड को अनुपम–अनूठी सुन्दरता प्रदान की है और इसका आनन्द–रस लूटने के लिए प्रति वर्ष देश–विदेश के लाखों सैलानी यहां आते हैं। किन्तु भाग्य की विडम्बना देखिए! प्रकृति की देवी इस सुरम्य भू–खण्ड पर रूठ गयी है। यह तो अब मरुभूमि बन गयी है। यहां के झील अब शनैः शनैः सिमटकर रह गए हैं और वातावरण–प्रदूषण के इतिहास में इनका नाम आने लगा है। वह क्यों और कैसे **टूरिस्ट** शीर्षक कहानी में इसकी तह तक जाने का मैंने प्रयास किया है। इतना ही नहीं, संत कवयित्री लल्लद्यद और शेख नूरुद्दीन वली की इस सरे–जमीन पर जहाँ इन्होंने अपनी रचनाओं में भक्ति, ज्ञान तथा सदाचार की अनुपम रसधारा बहायी, जिसमें अवगाहन कर कश्मीरी जनमानस शताब्दियों से आप्लावित रहा हैं, आज

इसी भू–खण्ड में कुछ गुमराह युवकों ने पड़ौसी देश पाकिस्तान के बहकावे में आकर बन्दूक उठाया है और निर्दोष लोगों को मारना शुरु कर दिया है। ये धर्म–निरपेक्षता की मशाल को बुझाने पर उतर आए हैं। यही कारण है कि यहां के दो प्रतिशत अल्प संख्यक न चाहने पर कश्मीर से पलायन कर अस्थायी रूप ये डुग्गर–देश जम्मू में बसने लगे हैं। आखिर इसके पीछे कौन से तत्व काम कर रहे हैं? इसका रेखांकन **गोली का डर** शीर्षक कहानी में किया गया है। किन्तु प्रश्न उठता है कि यहां इस तरह का नर–संहार क्यों शुरु हो गया? क्या कश्मीरी आम–जनता इसके लिए जिम्मेदार है? नहीं, कदापि नहीं। इसके पीछे पाकिस्तान के बहकावे पर कुछ ऐसे गुमराह तत्व काम कर रहे हैं जो यहां की आम–जनता की संतान हैं किन्तु बहकावे की चिंगारियों से उनकी आंखों की रोशनी चली गयी है और अपने ही भाईयों से पेसा ऐंठने के सिवाय वे जानते ही नही कि हम यह बन्दूक किस लिए उठाते हैं या हमारा इसके पीछे क्या उद्देश्य है। **'आंतक-बीज'** शीर्षक कहानी में इसी बात को सही अंदाज में चित्रित की गयी है। किन्तु आजकल कश्मीर में जो कुछ हो रहा है, उसकी यहां के अल्पसंख्यक भारत की स्वतन्त्रता–प्राप्ति के पश्चात् आशंका कर रहे थे तिस पर भी ये अपने प्रदेश में शान्ति एवं सद्भावना से रह रहे थे। यही कारण है कि ये अपने पास चाकू के सिवाय कोई भी घातक शस्त्र नही रखते थे। किन्तु जब उनको वर्तमान समय के आतताइयों ने चुन–चुनकर गोलियों से छलनी करके अपनी मातृभूमि छोड़नें के लिए भगाया तो ये इन घातक शस्त्रों का महत्व समझने लगे। **'फड़कती आंख'** नामक कहानी यही विषयवस्तु लिए हुए है। कश्मीर से अल्पसंख्यक माल व जायदाद छोड़कर अस्थायी तौर पर भारत के मैदानी क्षेत्रों की ओर गए–मात्र अपनी कीमती जान बचाने के लिए। नर–संहार का यह नग्न–नृत्य देखकर ये पागल हो गए हैं। इनको आशा थी कि ऋषियों की इस भूमि में शीघ्र अमन होगा क्योंकि अमन पसंद लोगो को इससे बढ़कर और क्या चाहिए। वह अपनी घाटी कश्मीर को जाने की तत्परता से प्रतीक्षा करते हैं। वह कश्मीर जा सकते है क्योंकि ये अपने ही देश के अपने प्रदेश के एक छोटे से

भाग में विस्थापित बनकर तार–तार हुए टेंटों में दिन काट रहे हैं जबकि कश्मीर में इन्होंने आलीशान कोठियां छोड़ी हैं। क्या करेंगे ये मुट्ठी भर लोग? कश्मीर में अभी आतताइयों को बन्दूक की नली पर मारने की तृष्णा मिटी नही है। मगर ये कश्मीर जाने के लिए पागल हो गए हैं। **'विष और अमृत'** नामक कहानी की रचना इसी आशय को लेकर किया गया है। किंतु प्रश्न उठता है कि ऐसा कब तक चलता रहेगा! कश्मीर के हालात कब तक अस्थिर रहेंगे! क्या इसकी कोई सीमा नहीं है? हां इसकी भी अपनी सीमा है और कश्मीरी के ही एक लोकप्रिय कवि स्वर्गीय गुलाम अहमद 'महजूर' के अनुसार शिशिर भी नहीं रहेगा, बर्फ भी पिघलेगी और फिर आएगी बहार! **'सीमा'** नामक कहानी का आशय तो यही है। किंतु उस समय सीमा असीम हो जाती जब विश्व में किसी भी स्थान पर जातिवाद, प्रथक्तावाद, अलगांववाद तथा आंतकवाद रूपी भयंकर एवं भूताकार पेड़ उगकर सामने आए। क्या इसके पीछे कोई यन्त्र काम कर रहा है? **'कंप्यूटर'** नाम की कहानी का आशय भी तो यही है।

प्रस्तुत कहानी–संकलन की सभी कश्मीरी कहानियों का हिन्दी अनुवाद मैंने स्वंय किया है। वैसे अनुवाद मौलिक सृजन से भी बढ़कर दुष्कर कार्य है। इतना ही नहीं, यह काम मुझे मूल भाषा कश्मीरी में कहानी–रचना करने से भी जटिल, श्रम साध्य और विरस लगा क्योंकि यहां मैं अधिक बन्धन में रहा। फिर भी इस प्रतिबंधता में रहकर, अनुवाद करने में मैंने मूल रचना के प्रति अन्याय नहीं किया है। जहां तक मुझसे हो सका, इसका पुनसृर्जन उसी तरह किया जिस तरह इसकी मूल रूप में रचना की गयी थी। पाठकों को मेरा किया गया अनुवाद मूल के बराबर का प्रयास लगेगा–ऐसा मेरा पूर्ण विश्वास है। इन सभी कहानियों में भाषा–प्रवाह को कायम रखने स्थानीय बिम्बों व रूढ़ि प्रयोगों को बोधगम्य बनाने तथा वर्ण–विषय को अधिक हृदयग्राही बनाने के लिए कहीं–कहीं फेरबदल किया है। वह इस तरह कि लम्बे–लम्बे वाक्यों कों तोड़कर उनमें संगति बिठाने के लिए अपनी ओर से दो–एक शब्द जोड़ दिए हैं तथा अर्थ के बदले आशय पर

अधिक ध्यान दिया है। यह सब इस आशा के साथ किया है कि प्रस्तुत संग्रह में मेरे द्वारा अनूदित प्रत्येक रचना अपने आपमें 'रचना' का दर्जा प्राप्त कर सके। मेरा पूर्ण विश्वास है कि प्रस्तुत संकलन की सभी रचनाओं को पाठक इसी दृष्टि से देखें और पढ़ेंगे।

कश्मीर से पलायन करने के बाद मुझे शरण के लिए विभिन्न स्थानों की ओर प्रयाण करना पड़ा है। इस समय जम्मू आकर अस्थायी तौर पर रहने के लिए मजबूर हूँ। आगे मेरा ठिकाना कहां होगा–यह तो भगवान् ही जानता है। किन्तु इस एक वर्ष में जिनके सहयोग से मैं अपनी इन कहानियों को इकट्ठा करने में सफल हो पाया, उनके नाम हैं बालकृष्ण सेठी, अवतार कृष्ण जुत्शी और ओम गोस्वामी। इसके अतिरिक्त मैं अपने कर्मठ भतीजे नागार्जुन गंजू और उसकी पत्नी अनीता गंजू तथा सुशील राज़दान और उनकी पत्नी कुसुम राज़दान का विशेष रूप से आभार प्रकट करना चाहता हूँ जिन्होंने मेरा कर्मोत्साह बढ़ाकर अपने इस कार्य को आगे की ओर लेने में सहायता की। और अंत में, मैं उन सभी साहित्य–मित्रों का आभारी हूँ जिन्होंने मुझे प्रस्तुत कहानी–संकलन को प्रकाशित करने के लिए प्रेरित किया जिनमें मेरे प्रकाशक महोदय का नाम उल्लेखनीय है। मुझे खुशी है कि इन्होंने इसके छापने का बीड़ा उठाया और उछले हुए दिल को बाहर देखने का सुअवसर प्रदान कर इसको पाठकों के सामने लाए।

अवतार कृष्ण राज़दान

40-डी, पॉकेट–बी, ग्रुप-3
दिलशाद गार्डन, दिल्ली-110 095

एक

प्रतिरोध का प्रतिबिंब

वही अभिव्यक्ति, वही इज़हार–शब्दों के बने शब्दजाल का विस्तार। नपे–तुले मोतियों जैसे शब्दों के माध्यम से तुमको झुठला दिया, बेनक़ाब कर दिया और बाद में कोसा, यह कहकर कि तुमने मुझ पर ऐसा आघात क्यों किया और मेरी गतिहीनता के अंधकार को देखकर क्यों खुशियां मनाई।

मेरे भावों की इस अभिव्यक्ति से तुमको दुःख हुआ, उस समय मुझे ऐसा ही लगा। तुमने मुझ से कहा था कितने रंगों के, कितनी ही गंधों के, कितने ही फूल होते हैं बगीचे में। सब देखने में कितने अच्छे और सुगंधित लगते हैं। यूं ही अच्छे लगते हैं। किंतु कौन कह सकता है कि इन सब के खिलने की गति एक समान हैं। वास्तव में गति का संबंध न इनके अच्छे बीज से हैं न ही अच्छी उर्वरक डालने से। गति का प्रत्यक्ष संबंध है परोपकर्म से। इस जन्म में आकर मानव उनका फल पाता है। और हां, गतिहीनता के अंधकार को वह गति के प्रकाश में बदल सकता है–संघर्ष से। इसके लिए माली उसकी हर वक्त सहायता करता है।

तुम्हारी इन बातों से मैं सब कुछ समझ गया। उस समय तुम्हारी तरफ देखा भर था। तुम्हें प्रश्रय नहीं दिया था।

जीवन की उसी गतिहीनता में, इसको गति मिलने की आशा में कंटीली झाड़ियों से गुजर गया मैं उस दिन! हां, मैं घर से बाहर निकल आया। अपनी उस आशा पर ठंडा पानी डालने की इच्छा नहीं थी।

घर में असहाय था। सहायता पाने की आशा में किसी न किसी

के निकट आना चाहता था। अब भी मैंने इस तरह की निकटता को कायम रखा है। किन्तु उस समय की बात कुछ दूसरी थी। सब मेरी सहायता करना चाहते थे। ऐसे ही नहीं, मेरी योग्यता–विनिमय को देखकर लेकिन...लेकिन हां, मैं सब कुछ समझता था। उस वक्त एक माली बनकर तुमने मुझ जैसे गुलाब का सिंचन नहीं किया बल्कि मुझे मसला। मेरे हर कार्य को विफल कर दिया।

मैंने तुमको कोई गाली नहीं दी। नाराज या आहत भी नहीं किया। केवल अपनी बात कहने के लिए नपे तुले शब्दों को मोतियों की तरह माला में पिरोकर तुम्हारे पास भेज दिया। लेकिन इससे तुम हिले नहीं। मेरी पराजय हो गई। मेरे मुंह से एकदम निकल गया–अब मैं इस शब्दजाल में नहीं उलझूंगा। तुम्हारे प्रति अपने प्रतिरोध को प्रतिबिंबित करने के लिए मेरे पास तो कई माध्यम हैं। मूर्ति कला अभी जीवित है। तुम्हारे सोच या बातों की प्रतिक्रिया से मैं चित्रांकन भी कर सकूंगा, ऐसी बात नहीं है। लेकिन उस समय मेरे पास कुछ शब्द ही बच गए थे और उन्हीं को साथ लेकर मैं घर से निकल गया था।

किंतु मैं क्या करने घर से निकल गया? पहले–पहल तो इसका किसी को पता नहीं था। मैं समाज–कल्याण विभाग में तुमसे मिला। अपने अपंगु–संसार में रह कर, इसमें अपनी विवशताओं की ओर तुम्हारा ध्यान केंद्रित किया। मेरी सारी बातों को ध्यान से सुनकर उस समय तुम इसी निष्कर्ष पर पहुंचे थे कि विभाग की तरफ से मेरी कुछ सहायता होनी चाहिए। विभाग के उच्चाधिकारी होने के नाते उस समय तुम मेरे लिए कुछ भी कर सकते थे। फिर भी तुमने सीने पर कुल्हाड़ी रखकर यह निर्देश दिया और कहा कि मैं इसी विभाग में एक रिक्त स्थान पर बाबू के पद पर नियुक्त हो गया हूं। विभाग में इसकी घोषणाकर दी गई। इसी के साथ इस छोटी सी बात के लिए रेडियो, टेलीविजन एवं अन्य प्रचार–माध्यमों द्वारा खूब प्रचार किया गया। उस समय ऐसा लग रहा था कि तुम मेरे लिए भगवान तुल्य है। तुमने मुझ पर बड़ा अहसान किया है। मेरे जीवन को एक नई दिशा प्रदान करके गतिशील बना दिया है। लेकिन आज मुझे तुम्हारे साथ से नफरत हो गई है। सोचता हूं, हमारे ही कल्याण का विभाग और इसी के अधिकारी हमें अहसान के बोझ

से पीस रहे हैं। हमारी भलाई के लिए किए गए कार्य के नाम पर हमारा शोषण कर रहे हैं। आखिर यह कब तक? यह कब तक होगा। नहीं, यह नहीं होगा।

लेकिन मैं भूखा नहीं मरना चाहता था। किसी भी तरह अपने बदन के निर्जीव अंगों को गति में लाकर मैं इस विभाग में काम करने लगा। यहां सम्मानपूर्वक कमाए गए पैसे से मैंने किसी हद तक अपनी आर्थिक दशा सुधार ली। पहले–पहल तो तुम्हारी चमकती हुई आंखें और तुम्हारे चेहरे के भाव को देखकर मुझे लगा कि तुमने मेरे लिए बहुत कुछ किया है। तुमने मेरे जीवन को एक नई दिशा प्रदान की है। किंतु फिर भी मैंने तुमको प्रश्रय नहीं दिया। अपने प्रति हीन–भावना से मैं कभी–कभी तुम्हारी मीठी–भीठी बातों से पिघला भी। पिघलना तो स्वाभाविक है ही सबों के लिए। तुम्हारे सामने बैठकर अपने मन को स्थिर न रख सका मैं। तुम मेरी सहायता करते थे, मेरी सुविधाओं का खयाल रखते थे। लेकिन इसके बदले में मैंने भी तुमको बहुत कुछ दिया जिस पर तुमने उस समय कोई ध्यान नहीं दिया, पता नहीं क्यों? लेकिन आज सब कुछ जानता हूं। जानता न कैसे। जानने के लिए आपने ही विवश किया।

तुम्हारे साथ अपने कार्यकाल के बीच मैंने अपने तौर से लाख कोशिश की कि तुम मुझे वह न समझो जो मैं इस समय हूं। मैं सिर्फ इतना ही चाहता था कि तुमने जैसे मैडम क्यूरी को समझा है, हेलन केनर को समझा है, उसी तरह मुझे भी समझो। तुम में दृष्टि है, इसलिए याचना कर रहा था।

तुम मेरी ओर देखते थे और मैं समझता कि तुमने मेरी बातों को समझ लिया है। लेकिन नहीं, मैं ही गलत सोचता था। ऐसी बात नहीं थीं तुम में। तुमने मुझ से छल किया, मेरी भावनाओं पर करारी चोटें की। और जब मेरी पदोन्नति का समय आ गया तो मुझे इसके लिए अयोग्य घोषित किया। लोग कहते हैं कि मर्द जात हमेशा हिंसा में विश्वास रखती है। लेकिन यह झूठ है। स्वयं को मिलने वाली चीज़ किसी दूसरे को मिलते देख तो हिंसा होगी ही। हाथ से रोटी छीनना खराब लगेगा ही, मर्द को भी, औरत को भी। तिस पर भी तुम उस औरत

को नाराज नहीं करना चाहते थे। मुझ से दस वर्ष जूनियर होते हुए भी तुमने उसको बिना संघर्ष की वेदी पर चढ़ाकर 'हेड–क्लर्क' की पदवी से सम्मानित किया। कहना नहीं चाहता था किंतु अपना अंतर्मन कहने पर विवश–सा हो जाता हूँ। तुम तो उसको हमेशा अपने निकट पाते हो। बात–बात पर हँसने में तुम संगीत की सी लय महसूस करते हो। वह तो सुंदर है ही किंतु इतनी कम आयु में इतनी अधिक प्रवणता निःसंदेह तुम्हारे लिए प्रशंसनीय है। और वह शोख है, चंचल है, इससे बढ़कर तुम्हारे इस विभाग में और क्या होना चाहिए। सब से बड़ी बात तो यह कि वह चल–फिर सकती है और आपके विचार में यही तो इस पद के लिए उपयुक्त है।

ठीक है। तुमने तो उस दिन सच ही कहा था। कहा था कि कितने ही रंगों के, कितने ही गंधों के कितने ही फूल खिलते हैं बगीचे में कुछ तो देखने में ही अच्छे लगते हैं। कुछ यों ही अच्छे लगते हैं। और आज तो तुमने उसी एक फूल को गुलदस्ते में रखकर अपने विभाग में 'डेकोरेशन–पीस' के तौर पर इस्तेमाल किया है। तुमने इसकी गति को देखकर चुना। नव–यौवना है न, इसी लिए। और तुम्हारे अनुसार गति का संबंध है न परोपकर्म से। परोपकर्म का फल तो वह इस जन्म में चखकर खा लेती है। उसको किसी चीज के पाने के लिए संघर्ष करने की कोई आवश्यकता नहीं। उसको तुम जैसे मेहरबानों की बदौलत हर समय सब कुछ मिल सकता है। सिर्फ जरुरत है तुमको उसके बात–बात पर हँसने की और इसी के साथ अपने मोतियों जैसी सफेद दंत पंक्ति निकालने की। वास्तव में उसकी हँसी में भी एक छंद है, एक संगीत है। उसमें एक आकर्षण है और किसी भी योगी या संत को अपनी ओर खींच लेने की शक्ति है। क्या नहीं है उसमें और क्या है, यह सब तुम ही जानते हो।

मैं भी उस चटकीली औरत के पास बैठता था। कल तक तो वह मेरे कहने पर नाचती थी किंतु आज मुझे मजबूर होकर उसके आदेशों का पालन करना पड़ा। मेरे लिए यह सब असह्य था। मेरे पागल मन ने उसको यहाँ से हटाने की योजना बनाई किंतु इसको कार्यान्वित करने

के लिए बल और गति की आवश्यकता होती है। मेरी यह योजना विफल रही।

उसने मेरी प्राप्य चीज़ को अपना नाज– नखरा दिखाने की योग्यता से मेरी आंखों के सामने अपने अधिकार में कर लिया, फिर भी मुझे कोई दुःख नहीं। वह भी तो मेरे ही साथ काम करती थी। मुझे मेरी पदोन्नति का सम्मान नहीं मिला तो क्या हुआ। यह गर्व की बात नहीं है मेरे लिए कि नव–युवकों की इस बेकारी के अंधकार में एक स्वस्थ्य एवं सुंदर नव–यौवना को किसी–न–किसी तरीके से इतना बड़ा पद–भार मिला और वह इसको उठाने में पूरी लगन दिखाकर अपनी आंखों में अपना कोई अलग संसार बनाने की कल्पना कर रही है। क्या पता, मैं इस संसार में खप पाता क्योंकि इसका विस्तार बहुत बड़ा है और इसकी हर दिशा तक पहुंचने के लिए गति होनी चाहिए। मेरा भी अपना एक अलग संसार है किंतु वह सीमित है। अपंगु–संसार में रहना एक इंसान के लिए नर्क है। इसमें वह अंदर ही से घुटता है और घुट–घुट कर मरता है। किंतु उसके लिए इस संसार में एक कलाकार होना महान वैशिष्ट्य है। मैं भी कलाकार के नाम पर एक छोटा–सा लेखक हूं और तुम्हारे साथ अपने कार्यकाल के बीच लेखन द्वारा इस अत्याचार के विरुद्ध कई बार आवाज उठाई थी। मैंने सुना था कि कलम की नोंक तलवार की धार से भी तेज होती है। किंतु आजकल ये बातें वास्तविक नहीं लगती हैं। कलम की नोंक मकड़े की तरह शब्दजाल बुन सकती है किंतु... किंतु अब मैं अपने उस छोटे और अलग संसार में कला का एक नया माध्यम अपनाना चाहता हूँ। मैं शेरगिल या पिकासो तो नहीं किंतु उनके बराबर तो ज़रुर बनना चाहता हूं ताकि संसार में हुए हर अत्याचार के प्रतिरोध में बारीक से बारीक रेखाओं में रेखांकन कर सकूं। क्या पता, इसी से मुझे इस कला के अस्तित्व में समाहृत भावपूर्ण तन्मयता मिले और मेरे प्रतिरोध का प्रतिबिंब वह लोग देख पाएं जिनके पास आँख हो।

(भाषा–सितम्बर–1986)

❑

दो

'एल० बी० डब्ल्यू०'

यदि किसी का दस महीनों में ही दस वर्ष बीतते देखने हों, हट्टे–कट्टे और मांसल बदन को अस्थिपंजर में बदलते देखना हो तथा अपने मन की खुशी की रंगारंग फूलों से भरी फुलवारी वीरान–उजाड़ होती हुई देखनी हो तो वह गुलाम अहमद को याद कर सकता है। अफसोस यह नहीं कि तपती धूप के कारण उसका मन–भावन फूल सूख गया, उसकी पत्तियां झड़ गयीं। किन्तु दुःख तो इस बात का था कि बिना काले–घने बादल से जोरदार बूंदें क्यों बरस गयीं और इतना बरस गयीं कि यह जमीन पर आ गिरा, खाक हो गया और अब इसका फिर से खिलने का प्रश्न ही नहीं उत्पन्न होता। यही हसरत उसके दिलो–दिमाग में जल रही थी, सांप की तरह विष घोल रही थी और एक इन्सान में जो स्फूर्ति और ताजगी की गंध आती है, वह उसमें नहीं रह गयी थी।

बस, यह जो दस महीने उसके यहां काम करते बीत गये, वह ही जानता था। इस कालावधि में उसका दिल कितनी बार रह–रहकर डूबा उतराया, वह काया ही जानती थी। काम करते समय किसी की तस्वीर बार–बार आंखों के सामने आकर परेशान–सी करती। छः फुटा कद! गौरा–चिट्टा रंग! लम्बी नाक! घुंघराले बाल। देखने में पहलवान जैसा! लेकिन...लेकिन...यह क्या? वह अपने–आपसे प्रश्न करता, किन्तु उसका यह प्रश्न हर बार मानो गले में अटक कर अपने–आप निरुत्तर होकर रह जाता। वह अमने को कोसता। दांतों से अपनी जीभ काटता और उसके बाद वह अपनी असहायता पर इस तरह अपनी आंखों से आंसुओं की झड़ी

लगा देता कि कोई देख न ले, सुन न पाये। किन्तु जब बट् साहब उसके पास आता और उसके बनाये माल को देखकर उसे कहता कि यदि इसी लगन और ईमानदारी से काम करोगे तो दोनों की किस्मत बदल जाएगी तो न जाने क्यों और कैसे एक सहम भरा उत्साह उसके मन में पैदा हो जाता और उसके बाद वह कुछ क्षण के लिए सोच के बियाबान में खो जाता।

बट् साहब नवयुवक था। पिछले कई वर्षो से अपना एक कारखाना चला रहा था–क्रिकेट बल्ला बनाने का। कारीगरों से काम कस कर कैसे लिया जाता है, यह वह जानता नहीं था। यदि इस कारखाने का पुराना मालिक होता तो दूसरी भाषा में बातें करता। उसका तरीका कुछ ऐसा था जिसे सुनकर कोई शक कर सकता था कि वह इस कारखाने का मालिक है या मजदूर। पर वह बुरा न था। इसीलिए तो उसने अपने विश्वस्त एवं सफल कारीगर को इस काम पर लगाया था–पिछले दस महीने से।

गुलाम अहमद क्रिकेट–बल्ला तो जरूर बनाता था किन्तु उसका मन यह काम करने को नहीं करता। जब कभी उसके कुशल–शिल्पी हाथों से कोई अच्छा– सा बल्ला तैयार होकर निकल जाता, तो उसको देखकर उसका दिल डूब–सा जाता। इस बैट से न जाने कौन सा नौजवान खेलेगा–वह कुछ क्षण के लिए मन ही मन सोचता, किन्तु फिर अपने काम में तल्लीन हो जाता।

इन्हीं दस महीनों में एक दिन! हां, यह वही दिन था जब सुबह–सवेरे उसने कारखाने में प्रवेश किया और अपने बनाये माल को अच्छी तरह देख लिया। वहां हजारों की सख्यां में बल्ले थे। बल्ले...बल्ले हजारों बल्ले... वह मन ही मन बुदबुदाया। पर उसके लिए इनमें से क्या कोई एक भी है? शायद कोई नहीं, कोई नहीं। किन्तु क्या पड़ी है मुझे यह काम करने की, जिससे मेरे मन की शान्ति का चमकता सूर्य रह–रह कर अस्त हो जाता है और मैं आहत होकर रह जाता हूं। इस प्रकार उसने अपने आपसे कई प्रश्न किये, किन्तु इनमें से वह किसी एक का भी सही–सही उत्तर न दे पाया। उसने एक दीर्घ निःश्वास लिया। फिर हाथ में बसूला लेकर अगला बल्ला गढ़ने की सोची। सोची क्या, उसकी सारी सोच इस समय मानो एक ही बिन्दु पर ठहर कर रुक गयी और वह बिन्दु उसके

मन–मस्तिष्क में अपनी असहायता और पेट के रूप में आकर केन्द्रित हो गयी। हां, इसी ने उसको यह काम करने के लिए मजबूर किया और बट् साहब के इस आश्वासन पर कि यदि कारखाने से ज्यादा से ज्यादा माल तैयार होकर निकलेगा तो दोनों की किस्मत बदल जाएगी, ने उसको यह काम लगन से करने को प्रेरित किया था। सच तो यही था कि उसको यह काम करने में तनिक भी दिलचस्पी न थी। किन्तु उसका एक अरमान तो जरूर था जो एक तीर बनकर हर पल उसके दिल में टीस पैदा करता और मन–मस्तिष्क को विक्षिप्त ख्यालों की रस्सियों से जकड़ लेता। काश! मेरा यह अरमान भी पूरा हो जाए! वह अपने आपसे कहता, फिर शून्य की ओर देखकर न जाने क्या–क्या तलाशने की कोशिश करता, किन्तु वहां उसको धुंध के सिवाय कुछ नही दीखता। कुछ नहीं! और जब वह अपने काम में तल्लीन होता तो उसको अपना वह अरमान पूरा होने की एक आशा रह जाती और वह है बट् साहब का दिया हुआ आश्वासन जिसको वह मन में बार–बार दोहरा कर सोचता कि क्या पता उसको एक नया जीवन–दान देने का यही एकमात्र कारण बने। इसी आशा के साथ उस दिन उसने कारखाने में दुगने उत्साह से काम किया और ब्रुश में से थोड़ी सी पालिश लगाकर बल्लों पर चलाना शुरू कर दिया। पहले तो ये बल्ले भद्दे लग रहे थे। फिर थोड़ी सी चमक आयी...कुछ और चमक...और ये शीशे की तरह चमकने लगे।

'आई, कितने शानदार हैं ये बल्ले! शायद कोई भी पच्चास से कम का नहीं होगा!'

'हां, उससे कम कया होगा? लकड़ी तो बहुत महंगी हो गयी है।'

पच्चास रुपये! दो दिन की मज़दूरी।

जैसे ही ये बल्ले पालिश चलाने के बाद आईने की तरह चमकने लगे, तो उसका दिल एक बार फिर डूब सा गया। उसने अपने होंठ काट लिए!

बट् साहब उसके पास आया और कारखाने में बने इस सारे माल को तैयार देखकर बहुत खुश हो गया और गुलाम अहमद से पूछा–'तुम्हारे कोई बच्चा है?'

'हां जनाब, एक लड़का है।'

'क्या उम्र है?'

'बस, अब इसी वर्ष सोलह पार करेगा।'

'हूँ ! तो ठीक है। तुमने अब तक क्यों नहीं कहा। खैर कर लो काम। हां, इसी प्रकार, दिलचस्पी से। इसमें मेरा भी लाभ होगा और तुम्हारा भी'–बात को काट कर बट् साहब वहां से चल दिया, किन्तु इस एक वाक्य को सुनकर गुलाम अहमद एक बार फिर सोच के बियाबान में खो गया। उसकी आंखों के सामने कई तस्वीरें आने लगीं–एक बहुत बड़ा स्टेडियम! तमाशाइयों से खचाखच भरा हुआ! कोलाहल! खिलाड़ियों में से उसका इकलौता बेटा पूरी सावधानी से बल्ला घुमाते हुए अपनी टीम को पराजय से बचाने के लिए डट कर मुकाबला करते हुए! उसकी हर हिट कभी चौका होता है, कभी छक्का, जिसको देखकर दर्शक तालियां बजाते हैं और इन तालियों की गूंज उसका उत्साह बढ़ाती हैं। उसके शतक बनने में अब केवल दो रन शेष! बल्ले और गेंद के बीच संघर्ष! तमाशायी उसके शतक बनाने की प्रतीक्षा में। कइयों के हाथों मे फूलमालाएँ हैं और कई उसको गले लगाने के लिए खेल के मैदान में छलांग लगाने के लिए तैयार। सबों में एक कौतुक भरा उत्साह। और ज्यों ही वह अगला रन बनाने के लिए बल्ला उठाता है तो एल. बी. डंब्ल्यू...

'गुलाम अहमद! गुलाम अहमद!'– जोर से बट्ट साहब उसको बुलाते हैं और वह एकदम चौंक कर उठता है, उसके पास जाता है–जनाब!

'तुम्हारा बनाया माल बहुत बढ़िया है। क्या कहने! अब इसको अलग–अलग डिब्बों में बन्द कर दो'–बट् साहब ने खुशी से मचल कर कहा।

गुलाम अहमद भी यही चाहता था कि ये सभी बल्ले यहां से भेज दिए जाएं। ये सब उसको काटने को आ रहे थे। न जाने क्यों इनको देख उसका दिल रह–रह कर डूब जाता। ये बल्ले भी क्या चीज हैं? भाग्यचक्र! जब इनसे जम कर खेलो तो आसमान की ऊचाइयों तक उड़ा देंगे और जब किसी प्रकार की सुस्ती आ गयी तो देखते ही देखते जमीन पर पटक देंगे–उसने अपने आपसे कहा। और झट अन्य मजदूरों की सहायता से

सारे माल को डिब्बों में बन्द कर बट् साहब के सामने रख दिया।

'यह लो'—बट्ट साहब ने उसकी ओर कागज का पुर्जा थमाते हुए कहा।

'जनाब, यह क्या?'—गुलाम अहमद ने आश्चर्यचकित होकर पूछा।

'गेट पास।'

'जनाब, यह किस लिए?'

'तुम यहां से एक कीमती गेंद और बल्ला ले जा सको—इसलिए!'

यह सुनकर गुलाम अहमद आवाक् रह गया। उसको लगा कि आकाश पर काले—घने बादल छा गये हैं और इन्होंने जोरदार गर्जन के साथ बरसना शुरू कर दिया है उसकी आंखों में आंसू उमड़ आये और इससे पहले कि वह फूट पड़ता बट् साहब ने पूछा—'क्यों क्या बात है? बोलते क्यों नहीं? तुम्हारी यह चुप्पी ही मुझे हमेशा सालती है।'

'जनाब'—गुलाम अहमद आगे कुछ न बोल पाया। उसकी तो मानो सांस कहीं बीच में ही रुक गयी थीं 'अरे भाई इसमें झिझकने की तो कोई बात नहीं। यह मेरी ओर से बेटे के लिए उपहार समझो। कोई अपने कुशल—शिल्पी हाथों से सुन्दर बल्ला बनाये किन्तु अपने बेटे के खेलने के लिए इसको खरीद न सके, यह हम लोगों के लिए कितनी शर्म की बात है। रख लो इसे।'

'ऐसी बात नहीं है जनाब! इसके लिए मुझे बल्ला नहीं, बैसाखियां दीजिए'—गुलाम अहमद ने उमड़ते हूए आंसू पोंछकर कहा। उसकी आवाज भर्रा गयी। दिल भारी हो गया। फिर कांपते हुए होठों से कहा—'जनाब.. .जनाब...मेरे बेटे की टांगे टांगे...'

'ओह! ऐसी बात है?' बट्ट साहब ने उसकी ओर देखकर कहा और चुप हो गया।

(कादम्बिनी, जनवरी 1986)

❑

तीन

मनः स्थिति का पिशाच

जाने एकाएक उसको यह क्या हो गया। मन एक दम कसमसाने लगा। अपने ही शरीर के ये बलिष्ठ किन्तु निर्जीव अंग काट—काट कर कहीं दूर फेंक देने का मन करने लगा अथवा इनको कहीं कच्चा चबाने का जी चाहने लगा। उस समय ऐसा लगा कि उसका तन—मन भीतर ही भीतर किसी बेचैनी की अग्नि में जलकर झुलस गया है और वह छटपटा रहा है। एक अज्ञात कसमसाहट! एक आंतरिक हलचल! उसको लगा कि किसी के अहसान के एक हल्के से बोझ से वह धीरे—धीरे दब—पिस गया है। लोग उसकी ओर देख कर तीर जैसे ताने दे मारते हैं। उसको देख कर उनके मुंह से हंसी के जोरदार फव्वारे छूट रहे हैं। और यह देख मजबूरी के कारण कुछ न कहने पर मजबूर—सा हो जाता है। वह, नहीं, उसका सारा अस्तित्व! वह चौंक उठा बाप रे! उसे लगा जैसे बदन के इन निर्जीव अंगो में थोड़ी—सी जान आ गयी है और वह दर्द से कराह रहा है।

बदन के इन निर्जीव अंगों में दर्द महसूस कर वह कराह उठा। इस बीच वह बेचैन—सा होने लगा किन्तु यह सब कुछ क्षणों के लिए हुआ जैसे कुछ हुआ ही न था। इस प्रकार के दर्द होने की अनुभूति से कुछ पल के लिए वह खुश हुआ। वह अपने—आप से कहने लगा—उसका बदन दर्द महसूस कर रहा है, बदन के निर्जीव अंगों को जान देकर! सारा शरीर घूमने—फिरने योग्य बनाकर। पर नहीं, इस समय कुछ नहीं हुआ है। इस समय एक पंखकटा पक्षी कल्पनालोक में विचरण

कर पंख फड़फड़ा रहा है। वह लेटा हुआ ऐसा ही सोचता रहा। और वह सोचने को क्या–क्या सोचने लगा। किन्तु कहां कुछ हुआ! न उसके बदन के निर्जीव अंगों में एक नयी जान आ गयी, न ही वह उनमें कोई दर्द महसूस करने लगा है। उसका शरीर ऐसा ही निर्जीव पड़ा है और उसके चलने–फिरने का सवाल ही पैदा नहीं होता। उसका मन एक बार फिर बेचैन हो गया। एक असंभावित घृणा एवं पश्चाताप की धुंध उसके मन को मथने लगी। मन हुआ अपने ही इस अस्थिपन्जर बदन का सबों के सामने विवस्त्र करने का, इसकी एक–एक हड्डी तोड़ देने का। इसका हाड़–मांस सिर से पाँव तक काट देने के लिए मन बेचैन हो उठा। क्या रखा है इसमें! कुछ भी तो नहीं। इसकी महत्वपूर्ण कड़ी शक्ति इससे कब की किनाराकशी कर गयी है और इस अस्थिपंजर के पुतले में केवल रह गया है एक अहसास जिससे अभी तक इसका अस्तित्व कायम है। किन्तु अब उसका यह शरीर थक कर चूर–चूर हो गया है। क्या करेगा अब वह इसको रखकर। अभिशप्त एवं निर्जीव हाड़–मांस के पुतले को। तथाकथित मिट्टी का माधो, नर्क! नहीं चाहिए उसे यह शरीर जो दूसरों के तिनकों पर पले, इससे बेहतर कि इसे मिट्टी का तेल लगाकर जला दे और यही क्षण उसकी आंखों के सामने घिरने लगा। उस को लगा कि किसी अदृश्य शक्ति ने उस पर एक दम जोरदार प्रहार किया। वह हाथ–पांव मारने लगा किन्तु उनमें वह शक्ति कहां रह गयी थी कि वे हिल पाये। दूसरे ही क्षण उसको अपना वह रौद्र रुप दिखायी दिया। अपने निर्जीव शरीर का! आंखों में एक दम अंधकार–सा फैलने लगा ब्लाटिंग पेपर पर फैलती हुई स्याही की तरह। ऐसा लगा कि वह अदृश्य शक्ति उसके साथ बातें कर रही है और सामने प्रश्नों की एक लम्बी सूची रखी है जिसका उत्तर वह माँगती है। किन्तु वह उत्तर नहीं दे पाता। वैसे वह उत्तर देना भी नहीं चाहता क्योंकि उसे लगता है कि इन सभी प्रश्नों का एक ही उत्तर है–उसके दुष्कर्मो का फल जो उसने पिछले जन्म में किये हैं और उनका फल इस जन्म में भोगने पर मजबूर है। मजबूरी की इस वेदी पर चढ़कर कैसे ढ़ांक सकेगा वह? किसे? उसने अपने दोनों हाथों से आंखों को ढक लिया। मन फिर

बेचैन हो उठा। अपने ही शरीर के निर्जीव अंग काट–काट कर कच्चा चबाने के लिए मन तत्पर हो उठा। आखिर ऐसा क्यों? वह एक बार सोचने लगा और सोच के इस बियाबान में भटककर वह अपने दूर के संबंधियों से मिल गया। वैसे तो किसी से मिलना पाप नहीं, किन्तु उस पर किया गया उनका थोड़ा–सा अहसान तो उसके लिए सदियों का बोझ आज बन गया है।

अहसानों का बोझ! वह एक बार फिर सोच के बियाबान में विलीन हो गया। उसके आंखों के सामने सभी संबंधियों की तस्वीरें आने लगी और वह महसूस करने लगा कि वह विवश हो, उन्हीं के किये अहसानों के बोझ से दब–पिस रहा है, उसका शरीर तो क्या सारा अस्तित्व ही उनके सभी आदेशों का पालन करने के लिए विवश है और इसी विवशता की आंधी में वह न जाने कहां से कहां पहुंच जाता। तिस पर भी उनका एक–दूसरे से यह कहना कि यदि इस अपंगु की हम देख भाल न करते तो उसका अस्तित्व कब का मर–मिट जाता–यह वाक्य तीर–व– नश्तर बन कर उसके जिगर के टुकड़े–टुकड़े कर देता। वह एक बार फिर छटपटाहट की हालत में हाथ–पांव दे मारता और इससे उसके मनःस्थिति का पिशाच एक भयंकर रूप धारण कर लेता। किन्तु दूसरे ही क्षण वह सोचता कि उसको उनकी किसी भी बात का विरोध नहीं करना चाहिए। उनकी इन सभी बातों को आप्त वाक्य मानकर स्वीकार करना चाहिए।

'हां, आप लोगों' की ये सभी बातें सत्य है। आपने मुझ पर थोड़ा–सा अहसान कर एक बड़ा परोपकार किया है। मुझ पर तरस खाकर मुझे जिन्दा रखने के लिए कुछ रुपये तो जरुर खर्च किए और अब उसी का ढ़ोल अपनी बिरादरी में पिटावाकर दिल का बोझ हल्का करते हो। किन्तु मेरी बातें भी ध्यान से सुनिए ताकि मेरे दिल का बोझ भी हल्का हो जाए। हाँ, तो सुनिए ना मधुशाला! हां मधुशाला! समझे न। इसकी रौनक तो आप लोग ही बढ़ाते हैं और यहां शाम को अपने मित्रों के साथ शराब–क़बाब पर हजारों रुपया व्यय करते हो। मैं पूछना चाहता हूं कि इस अंगूर की बेटी को जिगर के कोने में जगह देना मुझसे ज्यादा

महत्वपूर्ण मानते हो। चलिए, इन दो शब्दों पर भी थोड़ा–सा ध्यान दे। बेटा–बेटी। दोनों को पढ़ाना–लिखाना आपका बुनियादी फर्ज है। किन्तु जरा यह भी तो सोचिए कि दोनों की शादी पर आप लोग कितना पैसा खर्च करते हैं? खर्च क्या, आप इन दोनों को पैसों से तोलते हैं। चलो, यह भी मान लिया। आखिर अपने ही जिगर के टुकड़े हैं ये दोनों। मेरे तो नहीं हैं जैसे हम लोगों को आप समझते हैं। किन्तु हम लोग एक बात नहीं समझे हैं, वह यह कि आप लोग जब हमारी किसी रुप में सहायता करते हैं तो उसका ढ़ोल पिटवाने से क्या यह समझते हैं कि आपने अपने मान की रक्षा की है। क्या इसी से मधुशाला में आपकी इज्जत की जाती है और क्या इसी से आप अपनी बिरादरी में मान की कसौटी पर सही उतरते हैं? ओह! मुझे ऐसा नहीं कहना चाहिए था। यह तो उनका निजी मामला है। मुझपर तरस खाकर उन्होंने एक बड़ा अहसान किया है और मुझे अहसान–फरामोश नहीं होना चाहिए। दरअसल इसमें किसी का दोष नहीं। मैं तो ठहरा एक अपाहिज और वे अपनी स्वस्थ टांगों की बदौलत चलने·फिरने योग्य हैं।

उसकी चेतना अब लौट.आयी। उसके मुंह से एकदम निकल गया–कहां है कोई! न कोई सगा सम्बन्धी है यहां न ही उनका किया कोई अहसान का बोझ है। उसके विरुद्ध परोपकार का ढ़ोल पिटवाया जा रहा है। दरअसल वह अहसान– मंद है अपने ही शरीर के इन निर्जीव अंगों का जिन्होंने उसमें आत्मविश्वास एवं स्फूर्ति का संचार किया है–काम करने का, अपना पेट खुद भरने का और उन सभी के इस क्षुद्र अहसान चुकाने का जिसके बूते पर कहा जाता है, वैसे उसको याद नहीं, वह आज तक जीवित है। वह तो जीवित है और इतना ही उसके लिए काफी है और उसके मनःस्थिति का पिशाच जो कई सालों से तन्हाई के क्षणों में उसे तंग कर रहा था, अब पूरी तरह भाग गया है।

भीतर का कोहरा धीरे–धीरे छंटने लगा है।

(समाज कल्याण/जून 1988)

❑

चार

सफर

संघर्ष !

'क्या बकते हो ? जीवन का असली नाम सफर है।' विकल्प ने संकल्प पर बुरी तरह प्रहार किया।

'वह कैसे ?' संकल्प की उत्सुकता!

'वह इस तरह कि मैंने जीवन को अपनी आंखों से देखा है, इसके हर एक पहलू पर गहराई से सोचा है, समझा है और मैं मान सकता हूँ कि जीवन एक संघर्ष है।' विकल्प ने कहा।

'हर किसी का अपना सोच होता है। तिस पर भी आज तक जीवन के सम्बन्ध में हर किसी की यही मान्यता रही है।' संकल्प की एक बार फिर चोट।

'मान्यताएँ सभय के साथ बदलती रहती हैं और इनको बदलना भी चाहिए।' विकल्प का उत्तर।

'किन्तु मैं यह मानने के लिए तैयार नहीं। वस्तुतः सत्य यही है कि किसी सम्बन्ध में मान्यता जितनी पुरानी हो, उतनी ही वह सत्य के करीब होती है।' संकल्प की एक बार फिर करारी चोट।

विकल्प सुस्ताने लगा। सुस्ता कर भी हार नहीं मानी क्योंकि आजकल के हालात और परिवेश के अनुसार वह संघर्ष की बलिवेदी पर चढ़कर इस दुनिया में आते ही जीवन के सफर पर निकला था और आज तक इसमें प्रति पल संजोए अपने अनुभव समेटने में लगा था। कुछ पल के लिए चुप्पी में रहने के बाद उसने एकदम कहा–'मैं मानता

हूँ किसी भी नियमित क्रम में मान्यताओं का कोई स्थान नहीं।'

'जिसमें आपके जीवन का सफर भी शामिल है।' संकल्प का कटु व्यंग्य।

'हां'–विकल्प ने कहा।

'ऐसे कहते हो कि जैसे जीवन सच ही एक सफ़र है और तुम यही सफर तय कर रहे हो।' संकल्प ने कहा।

'आपको क्या अब भी सन्देह है। जब तक मैं जीवित हूँ तब तक मेरे पग इसी सफर पर चलते रहेंगे'–विकल्प का उत्तर।

'आपको इस सफर का कुछ याद है?' संकल्प ने पूछा।

'मुझे तो इसकी हर एक बात याद है। मेरे मन–मस्तिष्क में अब ये एक कहानी का रूप धारण कर गयी है'–विकल्प ने कहा।

'कहानी?'संकल्प का आश्चर्य।

'हां कहानी, सुनोगे?' विकल्प ने पूछा।

'तो सुना ले, सुनूँ कौन–सी कहानी है।' संकल्प ने कहा।

''सुनो–विकल्प एक कहानीकार की तरह कहानी सुनाने लगा–'हां तो मेरा जीवन–सफर उस समय से शुरू हुआ जब मैं मां की कोख में था। इसके अन्तिम पड़ाव तक कब पहुँचूंगा, उसका अब तक मालूम नहीं। शैशव में तो इस सफर का खूब आनन्द ले लिया। उस समय अठखेलियां सूझी थीं न। इसलिए रास्ते में उछल–उछलकर चलता था। इस बीच मैं कभी–कभी एक छोटा–सा कंकर उठा लेता था और आगे बढ़ते हुए रास्ते पर उछाल देता। मुझे इस बात की तनिक भी चिन्ता नहीं होती कि मेरे इस उछाले गए कंकर से इसी डगर पर चलने वाला कोई अन्य घायल भी हो सकता है। उस समय यदि मुझे इतनी सूझबूझ होती तो मैं ऐसा न करता। किन्तु शैशव भी क्या है, मानो बसन्त के अन्तिम दिन। इनका पता ही नहीं चलता, कब बीत जाते हैं। फिर भी मानव जीवन के सफर पर चलता जाता है और थक जाने के नाम नहीं लेता। मैं भी आगे बढ़ जाता हूँ और जीवन के इस कष्टसाध्य सफर में कई बार चाहा है कि किसी घनी छांव वाले पेड़ के नीचे कुछ पल

के लिए विश्राम कर पसीने को सहलाऊँ। एक दिन सौभाग्य से पेड़ भी देखा किन्तु इसके नीचे तिल धरने को जगह न थी। इसके आस–पास मुझ जैसे हजारों क्या, लाखों आदमी बैठे थे, अपनी बारी की प्रतीक्षा कर रहे थे। इस पर तुर्रा यह कि जिनको जगह मिली थी, वह इसको छोड़ने को तैयार नहीं थे। मैने लाख बार चाहा कि मैं भी इसकी घनी छाँव के नीचे पसीने को सहलाऊँ। एक दिन मैंने इसी पेड़ के सामने आकर एक आदमी से अनुनय–विनय के साथ कहा–"भैया, थोड़ा–सा इस तरफ हटिए। कुछ पल के लिए मैं भी तो यहां बैठूं।"

'जा–जा, देखता नहीं। यहां कौन सी जगह बची है जहां तुम बैठोगे ?' उसका उत्तर।

'जीवन के सफर पर चलते थक गया हूँ। बैठने के लिए कुछ जगह दे दें।' मैंने फिर विनय के साथ कहा।

'थकने दे। मैं आपके किए कर्म के बूते पर यहां नहीं बैठा हूँ।'–उसने कहा।

'कर्म ?'–यह सुनकर मैं आश्चर्य में पड़ गया।

'हां कर्म। जीवन के सफर में अपने कर्मानुसार ही किसी को विश्राम करने के लिए ऐसी जगह मिलती है।' उसका उत्तर।

शुरू–शुरू में मुझे अपने इस सफर में कई बार जोखिम का सामना करना पड़ा। कंटीले रास्ते पर कितनी बार तलुओं में कांटे चुभ गए, कितनी बार कंकर और किरचें लगने से खून बहा और कितनी बार उतराइयों से चलकर गिरने से बच निकला–अब ये बातें मेरे मस्तिष्क में अतीत के बीहड़ों में विलीन हो गयी हैं। इस सफर पर जाना तो अब मेरा नित्य का नियम बन गया है। कांटे कब चुभ जाएं, कंकर और किरच लगने से खून कब बह जाए– अब मुझे इसके साथ कोई सरोकार नहीं। मेरा काम है चलना, जीवन के पथ के अन्तिम पड़ाव तक पहुँचना तथा इसका सफर पूरा करना।

पुराने जमाने में जीवन के सफर पर जाना आसान था। वजह यह थी कि न रास्ते में कांटे थे न ही कंकर और किरचें। और यदि

कहीं–कहीं ये किसी को दिखाई भी देते थे तो वह इनको हटाता और समेटता और पीछे चलने वाले लोगों के लिए रास्ता बिल्कुल साफ करता था। किन्तु आजकल ऐसी बात नही रही है। आजकल रास्ते में कांटे कंकर और किरच तो क्या, गड्ढ़े ही गड्ढ़े हैं। उनको पाटने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। अरे, पाटे भी तो कौन इनको ? जब भाई– भाई के लिए गढ़ा खोदकर उसको जीवित कब्र में दफन करना चाहे, बेटा अपने मां–बाप को अधेड़ आयु में छोड़कर, इनको अन्तिम अवस्था में कांटों की सेज पर सुला दे, जवान बहनों को सरे–बाजार अपहरण करके, इनको अपने बचाव के लिए कंकर और किरचों भरे रास्ते पर दौड़ाए, मांसल, सुन्दर एवं स्वस्थ औरतों को, जिनकी छातियां खुली हुई हैं, पेट पर चढ़ी हुई तहें है, केश खुले और छितरे हैं, को आदर–भाव से न देखकर, उनको जबरदस्ती अपने शरीर से चिपका लें। और वह बूढ़ा जिसको देखकर ऐसा लगता है जैसे साक्षात् यमदूत हो, यदि अन्तिम सांस तक साथ न दिया जाए तो उस सूरत में सफर का रास्ता ऊबड़–खाबड़ एवं संकरा न होगा तो और क्या हो सकेगा। मगर हम भी कुत्ते की दुम हैं कि प्राण ग्रहण करते ही इस सफर पर निकल पड़ते हैं, अपने मैले एवं पुराने वस्त्रों में, तार–तार हुए चिथड़ों में ! हम में से कइयों ने इनसे तंग आकर इनको पहनना भी छोड़ दिया है और अपना गुप्तांग छोड़ नंगा बदन लेकर जीवन का सफर तय करते हैं। हमारे ये भीगे–भीगे बदन! इन पर लटकी हुई ये छातियां ! इन पर कहीं–कहीं ये खुजली के दाग ! इस तरह से एक–दूसरे की दयनीय दशा देखकर हम कभी–कभी कराह कर हांफ रहे हैं, आंखों से आंसू बह निकलते हैं और तड़पन की आग में झुलस जाते हैं।'

'बस।' संकल्प ने एक ही सांस में कहा।

'क्यों ? क्या बात है? अभी मेरी इस कहानी का अन्त नहीं हो गया।' विकल्प ने कहा।

'मुझे पता है कि इस कहानी का अन्त क्या है। क्या इस सफर से पीछे मुड़ा नहीं जा सकता ?' संकल्प ने पूछा।

'नहीं।' विकल्प का उत्तर।

'क्यों' संकल्प का आश्चर्य।

'क्या कभी सुना है कि बहते दरिया का पानी अपने मूल स्रोत से वापस मिला हो? ऐसा न कभी हुआ है, न ही हो सकेगा।' विकल्प का उत्तर।

'तो क्या मिलता है हमें इस सफर पर निकलने से ? भय, निराशा, अन्धकार ! इसके अतिरिक्त और क्या मिलता है? बता?' संकल्प ने पूछा।

'इसके अतिरिक्त और भी बहुत कुछ मिलता है।' विकल्प का उत्तर।

'क्या ?' संकल्प का आश्चर्य।

'जीवन के सफर में हुए अपने अनुभवों को समेटने और बाद में इनको एक नई अभिव्यक्ति देने का मौका।' विकल्प ने कहा।

'यह किस काम आ सकता है?' संकल्प ने पूछा।

'शायद इससे आने वाले कल के मानव को अपने जीवन के सफर के अन्तिम पड़ाव तक पहुँचने में सुविधा हो सके।' विकल्प ने कहा।

संकल्प मौन था!

ऐसा लग रहा था कि उसके पास कहने को कुछ नहीं बच गया है और वह हार गया है।

('शीराजा' जुलाई 88)

❑

पांच

जरुरत

सड़क पर पाँव रखते ही आशा को ख्याल आया। यह सड़क अब सीधी नहीं जा रही है। इसके बीच में एक मोड़ आ गया है जिसके फलस्वरूप यह अलग से हटकर रह गई है। फिर भी इस पर लोगों का आना–जाना बना रहता है। लेकिन आज–तेज कदम बढ़ाकर, जितना उससे हो सकता था, पूरी गति के साथ जा रही थी। उसकी सांस फूल रही थी। इस बीच उसने अपनी कलाई की घड़ी की ओर देखा–पूरे सात बजकर दस मिनट।

'बाप रे'–काँपती हुई आवाज में आशा ने अपने आपसे कहा। निटू स्कूल से घर आ गया होगा। वहाँ कौन है घर में? कोई नहीं, वह तो गली में मेरे ही इंतजार में होगा।

आशा ने सोचा और आगे बढ़ गई। अब इस तरह सोचने से कोई लाभ नहीं। इससे उसकी यह मुश्किल आसान नहीं हो सकती। सोचने से अब मन को दुख पहुँचेगा। मन भटक कर रह जाएगा।

ठीक है, वह आफिस जाती है, कुछ काम करती है। किन्तु सब की नजर में वह एक औरत ही तो है। बस!

इसके अलावा उसका काम घर बसाना, बच्चों को पालना, पति को खुश रखना ही तो है। उसकी 'प्रेस्टिज' का किसी को ख्याल नहीं।

आशा के कदम तेज गति से आगे बढ़ रहे थे किंतु इसके साथ ही उसके मन में किसी का चेहरा भी उभर रहा था–रूखा और कठोर!

इतने दिनों तक जो चेहरा बादलों के बीच छिप कर रह गया

था, क्या पता, आज वह तूफान बनकर बरस पड़े। कुछ कहा नहीं जा सकता।...

रवि का भी कोई दोष नहीं। वह जानता था कि पैसा कमाने से ही सब काम नहीं सुलझ जाते। फिर भी उसका इस बात पर अविचल विश्वास रहा है कि घर की नैया तभी चल सकती है जब इसके अंदर की रखवाली का भार कोई सँभाल ले।

यह सत्य है कि सब को खाना ठीक समय पर मिलता है। लेकिन इतना ही काफी नहीं है। इसके साथ–साथ सेवा आदि की भी जरूरत होती है।

हाँ, जरुरत थी, यह वह भी मानता है। लेकिन अब नहीं है। शुरू–शुरू में घर की नैया मँझधार में बुरी तरह हिचकोले खा रही थी और इसको घाट तक ले जाने के लिए सिर्फ एक डाँड़ की सहायता से काम नहीं बनता था। उस समय यदि कोई दूसरा भी इसमें डाँड़ या चप्पू चलाता तो यह आसानी से घाट तक लग सकती थी। रवि ने आशा को एक दफ्तर में काम करने के लिए तैयार किया। लेकिन आशा ने दफ्तर में काम करने में एतराज किया। भला मैं दफ्तर में काम कैसे कर सकती हूँ। क्या आज तक किसी ने यहां दफ्तर में मर्दो के संग काम किया है? मैं नहीं चाहती कि किसी दफ्तर में मैं ऐक 'डेकोरेशन–पीस' बन कर सबको बहलाऊँ। लेकिन ये शुरू–शुरू की बातें थी।

रवि की मजबूरी थी। वह नाव को गरक नहीं करना चाहता था। इसको घाट तक ले जाने के लिए वह किसी की सहायता चाहता था।

लेकिन तब रवि ने उल्टी ही बात कही थी।

बड़े जोश में आकर उसने आशा को समझाया था कि इसमें कोई बुराई नहीं। हम कब तक एक स्त्री को घर की चारदीवारी में बंद देखते रहेंगे। देश की आजादी के साथ–साथ हमें मस्तिष्क की सारी खिड़कियाँ खोलनी हैं ताकि हम सोच सकें कि हमारा भला किस में है और बुरा किसमें। वक्त की तो यही पुकार है। औरतों को अब मर्दो के

संग काम करना है। तुम तो पढ़ी–लिखी हो। अकल के इस घर को घर की चारदीवारी में कैसे बटोर पाओगी। इसको बाहर आकर बाँटने की जरूरत है। समझीं।

आशा अपनी तरफ से इस विषय पर काफी देर तक सोचती रही। फिर उसके सारे सोच का केंद्र–बिंदु इसी एक बात पर ठहर कर रह गया कि जब पति कहता है तो कौन–सी आपत्ति है। मैं दफ्तर में नौकरी करूँगी। फिर भी उसको एक मुश्किल महसूस हुई।

"निटु को कौन देखेगा ?"

'माँ तो है, वही देखेगी।'

कपड़े पर पड़ी राख को जिस तरह झाड़ दिया जाता है, उसी प्रकार रवि ने भी यह बात उड़ा दी थी। यही बात तो एक की विषम परिस्थिति बनी थी और दूसरे की मजबूरी? बस, इससे ज्यादा दोनों कुछ नहीं समझ पाए।

'तुम तो शाम चार बजे दफ्तर से घर वापस आ जाओगी। तब तक माँ निटू को देखेगी। दस से चार तक। हाँ, छह घंटे। अरी जानती नहीं, माँ को बाद में बेटे से ज्यादा पोता ही प्यारा होता है।'

बात सोलह आना सच थी।

आफिस से घर और घर से आफिस बस। पहले–पहले तो आशा का जीवन–संसार यहीं तक सीमित रहा। आफिस में उसने किसी के साथ मेल–जोल रखना उचित नहीं समझा। रखती भी किससे? वहाँ सब पुरुष अधिकारी थे। अपनी कुर्सी–मेज लेकर वह काम करती थी। किंतु इन छह घंटों में उसको निटू की याद बार–बार आती थी।

आशा दफ्तर में दिलचस्पी से काम करने लगी। कुछ ही महीने में उसका दफ्तर में काफी नाम हो गया। बॉस उस पर मेहरबान हो गए और हर फाइल के संबंध में वह पहले आशा को बुलाकर उसकी राय आदि पूछते। आशा अनचाहे ही बॉस के कमरे में जाकर किसी जरूरी फाइल के संबंध में बातें करती, फिर अपनी राय देकर उस पर नोट लिखवाती।

किंतु आशा के काम से बॉस को छोड़कर और कोई खुश नहीं था।

खुश होता भी कौन? जो बॉस आज तक मोहन, सलीम और अकरम से हर केस के संबंध में राय पूछता, वही आज आशा के इशारों पर नाचता है। दोष किसी का नहीं है। दोष यदि है तो आशा की उच्च शिक्षा का। वह लिखना–पढ़ना और हर केस का दाँव–पेच अच्छी तरह समझती है। और सबसे बड़ी बात तो यह है कि जिस केस का हल ये तीनों अधिकारी रिश्वत लेकर निकालते और बॉस को झूठ–मूठ कहकर फाइल पर हस्ताक्षर करवाते, वही केस आशा पहले अच्छी तरह पढ़ती, फिर अपनी सूझ–बूझ से इसका सही हल निकालती। रिश्वत लेने का सवाल ही नहीं पैदा होता। इस तरह लोगों के साथ न्याय करने का प्रमाण उसने कुछ केसों को हल करके दिया।

बॉस उन पर मेहरबान थे ही किंतु अबकी बार उसने आशा की पदोन्नति करने में किसी से परामर्श नहीं लिया।

आशा आफिस की अधीक्षक हो गई।

रवि मन–ही–मन खिलखिलाया।

उसने कहा––'बस, इसी तरह काम करोगी तो वह दिन दूर नहीं जब अपनी बॉस की कुर्सी पर तुम ही बैठोगी। काम लगन से करोगी, तभी कद्र बढ़ेगी।'

पहले–पहल रवि भी आशा के साथ आफिस के मुख्य द्वार तक जाता। कहता 'बस निटू की अब कोई चिंता न करना। वह माँ की गोदी में सोया होगा।'

'मुझे मां पर विश्वास है। इस तरह कहने की कोई जरूरत नहीं।' आशा टोकती।

'मैंने यों ही कहा। मां तो उसको अच्छी तरह देखेगी'––रवि ने उत्तर दिया।

इस उम्र में तो यह मां का काम नहीं था। फिर भी इस समय पैसों की जरूरत है। यह सब मां अच्छी तरह जानती है। नैया को किनारे

तक लाने के लिए इस समय हर एक को इसमें उतर कर डाँड़ चलाना है। और क्या पता, आप स्कूल मास्टर से प्राध्यापक हो जाएं। तब हमें इतनी कमाई की जरूरत नहीं होगी।

वही हुआ। रवि ने एम.एस.सी. (जीवविज्ञान) की परीक्षा अच्छे अंकों से उत्तीर्ण की। उसी साल सरकार को कॉलेजों के लिए उक्त विषय में प्राध्यापकों की आवश्यकता थी। इस के लिए रवि ने आवेदन किया। फलतः उसकी उक्त पद पर प्रोन्नति हो गई। पहले तो रवि एक मामूली स्कूल मास्टर था किंतु आज वह एक प्राध्यापक है।

पहले की तुलना में कमाई काफी बढ़ गई। किंतु इतने दिनों में आशा पहले की आशा नहीं रह गई थी। दफ्तर में अब उसका कार्यक्षेत्र काफी बढ़ गया और कई तरह के लोगों से मिलना–जुलना हो गया था। फलस्वरुप वह दिन के चार या साढ़े चार बजे तक घर नहीं पहुँच पाती। कभी–कभार तो वह छह या सात बजे बाद ही आफिस से निकल पाती।

बढ़ती हुई कमाई से रवि के खून में विलासिता के कीड़े कुलबुलाने लगे। किंतु कौन चाहेगा कि यह बढ़ती हुई कमाई रुक जाए, खासकर आजकल की इस महँगाई के जमाने में। यह भला रवि को मंजूर होता। नहीं।

लेकिन अड़चन दिखाई पड़ी।

रवि मामूली स्कूल मास्टर से एक सरकारी कॉलेज में प्राध्यापक हो गया। अब उसके गले में टाई झूलने लगी। ट्यूशन आदि को मिलाकर अब उसकी मासिक आय तीन हजार रुपए होने लगी। तिस पर उसकी जान–पहचान कॉलेज में तथा कॉलेज के बाहर विद्वानों के साथ होने लगी। जीवन में एक नया बदलाव–सा आने लगा। जिस बात पर पहले सरसरी ध्यान दिया जाता था, वही अब उसके लिए 'प्रेस्टिज' का सवाल बन गई।

फिर भी शुरू–शुरू में रवि ने इन बातों की ओर ध्यान नहीं दिया। लेकिन बाद में एक साथी प्राध्यापक ने इसकी तरफ इशारा

किया––'क्या मिसेज आशा अब भी नौकरी करती है ?'

'हाँ, हाँ, कार्यालय अधीक्षक हैं––दूसरा इतना कहकर चेहरे पर विकृति का सा भाव ले आया।

'सच ? तीन हजार रुपया मासिक वेतन पानेवाला भी अपनी पत्नी को चार या पाँच सौ रुपए की नौकरी करने पर मजबूर करता है ? लानत है।'–पहले ने तुनक कर कहा।

रवि कुछ नहीं कह पाया। हाथ–में–हाथ डाले दोनों प्राध्यापक साथी उसके सामने खड़े थे। उसको वे दिन याद आए जब घर में पैसों की बहुत जरुरत थी लेकिन इस समय उसकी जो आय थी उससे ऐसा लगने लगा कि वह जरूरत से ज्यादा है।

सह–प्राध्यापकों की बातें मन में काँटे की तरह चुभ गई।

शाम को कॉलेज से लौट कर जब वह घर पहुँचा तो उसने आशा से कहा––'बंद करो अब। मुझे अब पैसों की कोई जरूरत नहीं। तीन हजार रुपए से हम तीन जनों का पेट अच्छी तरह भर सकता है।'

आशा ने सुना। लेकिन कहा कुछ नहीं। केवल एक टक पति की ओर देखती रही।

रवि ने अपनी बात फिर दोहराई। इस समय उसकी आवाज में कड़वाहट थी।

आशा ने एक बार फिर पति की ओर देखा। एकटक होकर। फिर गंभीरता से कहने लगी–'यदि तीन हजार के बजाय चार हजार रुपए की आय हो जाए तो इसमें आपत्ति क्या है। हम चोरी थोड़े ही करते हैं। मेहनत से कमाना पाप नहीं।'

होठों पर दाँत जमाते हुए रवि कठोर आवाज में गरजे––'तुम्हें यह क्लर्की छोड़नी पड़ेगी। इससे मेरी 'प्रेस्टीज' में फर्क आता है।'

'भूल गए वे दिन जब पैसे–पैसे के लिए तरसते थे और मुझे बहला–फुसला कर दफ्तर में काम करने को कहा और वह भी उस समय जब वहाँ एक भी लड़की काम नहीं करती थी और आज अपने 'प्रेस्टिज' के बारे में सोच रहे हैं।'––आशा ने जोरदार आवाज में उत्तर दिया।

कलह जब बढ़ती है तो पटाखे के ढेर पर चिंगारी लगती है। लेकिन तभी कमरे में माँ के आ जाने से दोनों चुप हो गए। माँ को देखकर ऐसा लग रहा था कि इस औरत ने अपनी अधेड़ आयु में एक बच्चे को जन्म दिया है जिसकी देखभाल करने की हिम्मत अब उसमें नहीं है।

माँ के आने से पहले पटाखे के ढेर को चिंगारी तो जरूर लगी लेकिन पटाखे अभी नहीं फटे। माँ दोनों के चेहरों का भाव देखकर एकदम ताड़ गई कि यहाँ कुछ कहा–सुनी हो रही है। रवि ने मां की ओर देखकर मन में संकल्प ले लिया कि आज वह कुछ फैसला करके ही रहेगा। आशा यदि एक बच्चे की मां है तो उसको वह स्वयं देखना होगा। फिर भी यदि वह मेरी मां को एक दाई के रूप में देखना चाहती है तो उसको साफ शब्दों में कहना पड़ेगा कि रवि उसके इस इरादे को कभी सफल नहीं होने देगा।

शाम के साढ़े सात बजे। आशा ने कमरे में प्रवेश किया। उसको देखकर ऐसा लगता था कि रास्ते में तेज चलने के कारण वह थक गई है।

रवि ने आँखें झुकाकर उसकी ओर देखा। ऐसा प्रायः होता नहीं था। आशा जब दफ्तर से लौटती थी तो रवि उसको पास बुलाकर निटू को गोद में भर लेता था लेकिन आज ऐसा नहीं हुआ।

आशा थोड़ी विचलित हुई।

'क्या बात है? इतने उदास क्यों हो, निटू कहाँ है?'––आशा ने पूछा।

'सब ठीक है। तुम से कुछ बात करनी है।'––रवि का उत्तर था।

भीतर जाने के लिए आशा ने पांव बढ़ाए किंतु बीच में ही मुड़ कर खड़ी रह गई। लगभग सात दिनों से आशा को अब अपने पति को पहचानने में किसी तरह की तकलीफ नहीं हो रही है।

आशा आंचल का पल्लू खिसका कर चेहरे के पसीने की बूँदों को पोंछने लगी। फिर कठोर आवाज में बोली–'इतनी देर तक आफिस

में एक भी मसला सुलझ नहीं पाया और इस वक्त यह दूसरा मसला हल करने की ताकत मुझमें नहीं। तुम्हारी बात मैं कल सुनूंगी। बाद में उस पर सोचूंगी।'

इतना कहकर आशा कमरे के बाहर आई। पिछले कई दिनों से वह दफ्तर की फाइलों को सुलझाने के लिए कमरे में देर रात तक उनका निपटारा करती। इस बीच निटू मां या रवि के पास सोता था।

चौखट के पास पाँव रखते ही उसके पीछे से किसी के आने की आहट सुनाई दी। ज्यों ही पीछे मुड़कर देखा तो यह रवि था।

थोड़ी देर बाद उसको रवि की रूखी–सी आवाज सुनाई दी–

'लेकिन मैं तुमसे साफ–साफ कहना चाहता हूं कि यदि इस घर में रहना है तो नौकरी छोड़नी पड़ेगी।––'

'ठीक हैं––'

आशा बेमतलब बात का बतंगड़ नहीं बनाना चाहती थी। इस समय उसको रवि का चेहरा अच्छा नहीं लगा। सब से बढ़कर वह यह नहीं चाहती थी कि इस अधेड़ आयु में मां को ऐसे घिनौने झगड़े–फसाद का पता चले। मां और बेटे की खातिर उसने कई बार सोचा भी कि पांच वर्ष के बाद इस नौकरी को छोड़ दूं क्योंकि अब रवि का वेतन इतना हो गया है जिससे परिवार का पेट अच्छी तरह भर सकता है। इसके साथ ही जरूरी आराम की वस्तुएँ भी ली जा सकती हैं। लेकिन अब आशा को नौकरी करने का नशा चढ़ गया था। नौकरी करने से एक पढ़ी–लिखी औरत सारे दिन व्यस्त रहती है। सबसे बढ़कर तो यह बात है कि सब की जरूरतें बढ़ गई हैं। कोई किसी के सामने हाथ क्यों फैलाएं, चाहे वह उसका पति ही क्यों न हो। सब को जरूरत है पैसों की, बस पैसों की।

आशा ने सोचा और सोच के बियाबान में भटककर आखिर उसने अपने ही पथ पर चलने की सोची।

रवि यदि कॉलेज जा सकता है तो मेरा आफिस जाना क्यों नही हो सकता? नौकरी छोड़ देने से अब मेरे जीवन का कोई अर्थ नहीं

रह जाएगा। अब मैं बेकार जीवन जीना नहीं चाहती। जीवन में कुछ करके दिखाने की चाह है, उमंग है, तड़प है। भला रवि भी यह जाने!

आशा फिर अपने कमरे में आई। वहां रवि बिस्तर पर लेटा हुआ कुछ सोच रहा था। उसने ज्यों ही आशा को देखा, उठ खड़ा हुआ और दरवाजे पर ही रास्ता रोक लिया।

'इस कमरे में अब तेरे आने की जरूरत नहीं।'—रवि ने बेहद नफरत से कहा।

आशा ने अपने को संभाला। इस समय वह रवि की बात का जबाव नहीं देना चाहती थी। जग हँसाई करवाना कहां की बुद्धिमत्ता है।

बड़े ही कोमल स्वर में आशा ने रवि का हाथ पकड़ कर कहा—"मेरी बात सुनो। उसके बाद जो जी में आए कर लेना।"

'तुम्हारी बातें मैं बहुत सुन चुका हूं। अर्थहीन और बेबुनियाद बातें। अब तुम मेरी सुनो। आखिरी बार कहता हूं।'——रवि उसी अंदाज में बोला।

थोड़ा खंखारकर रवि ने पहले गला साफ किया। फिर गरज कर बोला—'इस घर में यदि रहना है तो पहले नौकरी छोड़ दो वरना तुम कहीं भी जा सकती हो।'

आशा की आंखों से आंसू बह निकले। बात इतनी बढ़ जाएगी, इसकी वह कल्पना भी नहीं करती थी। वह नहीं चाहती थी कि इतनी रात तक रवि जली—कटी बातें कहे और वह सुनती रहे। खासकर इतनी रात को सारा मोहल्ला जगाकर।

उसने रवि को एक बार फिर ध्यान से देखा। कहा—'जो कुछ कहना है, धीरे—धीरे कहो। मैं तो पास ही बैठी हूं। क्यों बेमतलब मां को परेशान करते हो और गई रात तक मोहल्लेवालों की नींद हराम करते हो ?'—आशा ने समझाते हुए कहा।

आशा कमरे के कोने में बैठ गई। रवि उसके सामने खड़ा हो गया।

'ठहरो।'

'क्या है?'

'अब मैं ठीक से समझ गया कि तुम यह पांच सौ रुपल्ली की नौकरी नहीं छोड़ोगी।'—रवि ने कहा।

'बिल्कुल ठीक समझा है आपने।'—आशा ने उत्तर दिया।

'लेकिन यहां मेरी मां दाई या नौकरानी तो नहीं जो इस उम्र में तेरे लाडले को देखेगी।'

'कौन कहता है वह मेरी दाई या नौकरानी हैं। दरअसल मैं उनकी दासी हूं। उनको हर संभव सुखी रखना मैं अपना कर्तव्य समझती हूं। रहा सवाल मेरे लाडले का तो वह उसे प्यार करती है। फिर भी मैं आज से उसके देखने के लिए एक दाई देखूंगी'——आशा ने एक ही सांस में कहा। उसको लगा कि इस पूरे कमरे में अंधेरा है और उसी अंधेरे में रवि का क्रूर एवं कठोर चेहरा उसके सामने एक भूताकार के रूप में उभर कर सामने आ रहा है।

आशा ने दम लिया। सिर्फ एक मुट्ठी हवा सीने में भर ली और फिर उसको वापस खींच लिया। इस समय उसकी समझ में कुछ नहीं आ रहा था। वह ऐसा महसूस कर रही थी कि वह बीच मंझदार में खड़ी है और यह फैसला कर रही है कि उसको इस घाट पर जाना है या उस घाट पर। फिर भी वह कुछ नहीं समझ पाई और अनचाहे ही लड़खड़ाती आवाज में कहने लगी—'बस, आज रात के लिए मुझे रहने दो। कल सुबह मैं कहीं चली जाऊंगी।'

रवि ने कोई आवाज नहीं दी। वह धीरे—धीरे उसके सामने से हट गया।

आशा अपने शरीर को टूटा—सा महसूस करने लगी। वह कमरे में लेटकर अपना शरीर खींच—घसीटकर करवटें बदलने लगी।

दोनों के बीच छोटी—छोटी खटपट तो पहले भी हुआ करती थी, लेकिन इस बार तो हद हो गई। पहले जब कभी खटपट होती तो सुलह करने की पहल तो रवि से ही हुआ करती थी। लेकिन इस बार

बात कुछ और ही लगती थी। पहले की खटपट में रवि की आंखें इतनी लाल नहीं होती थीं, लेकिन आज इनसे अंगारे बरस रहे थे। चेहरे पर दृढ़ संकल्प दिखाई दे रहा था। अब वह आशा के साथ नहीं रहना चाहता था।

—फिर भी।

आंखों से आंसुओं की लड़ी बाँधकर आशा सोचने लगी—

इस आदमी के साथ पहली मुलाकात तो स्कूल के दफ्तर में हुई थी। मैट्रिक का दाखिला तो उसने इसी के स्कूल में लिया था। बाद में वह उसके 'फार्म—मास्टर' बन गए। पढ़ाने—लिखाने के साथ—साथ वह लड़कियों में सामाजिक जागरण लाने के लिए कई प्रकार के भाषण देते। काम की बातें समझाने का अंदाज तो उसमें अनोखा था। उन्हीं भाषणों को सुनकर वह उनसे प्रभावित हुई और कॉलेज में बी०ए० पास करने के बाद भी उसके मन में यही लड़का रच—बस कर उसका जीवन—साथी बन गया। और जब रास्ते में एक दिन वह पीछे मुड़कर उसके सामने खड़ी हो गई तो उसकी झुकी हुई पलकों को देखकर यह जानने में जरा भी देर न लगी कि वह उसको दिल की गहराईयों से चाहता है।

'कैसी हो?'—रवि ने पूछा।

जवाब में आशा मुस्कराई थी।

'चलिए, आज बस—स्टाप तक पहुंचा दूं।'—रवि ने कहा था।

सिर्फ बस—स्टाप तक ही नहीं, उस दिन ये दोनों सारा शहर घूम आए। बाद में उसने उसको घर के दरवाजे पर विदा किया।

यह हुई उनकी आपस में बंधन की शुरुआत। इसके बाद इनकी कई बार मुलाकातें हुई। आशा के पास तो समय था और रवि को जितना हो सकता, उसका समुचित उपयोग कर नौका—विहार या शंकराचार्य पहाड़ी पर चढ़ने में लगाता।

दोनों ने एक दूसरे के बारे में इतना कुछ जान लिया था जो वे शादी के बाद भी न जान सकते थे। आशा थी कि दोनों का जीवन

किसी बड़ी खटपट के बिना खुशी से बीत जाएगा।

और इसीलिए रवि ने आशा से शादी करने का प्रस्ताव रखा। आशा तो राजी थी ही, उसने मां—बाप को भी इसके लिए मनवाया। वह खुद अपने इस जीवन से खुश थी। और इस समय भी बीच—बीच में आराम करने को जी चाह रहा था। लेकिन नहीं, आराम हराम है। आराम करने का मतलब ही अपना रोजगार खो बैठना है। वह काम करना जानती है, पैसा कमाना चाहती है क्योंकि उसको जरूरत है, पैसों की, ऐश—व—आराम की, अपने लाडले निटू को एक अच्छे स्कूल में पढ़ाने की। वह तो खुद गरीबी में पलकर बड़ी हुई है। यहां भी पहले उसके ऊपर गरीबी के साये मंडराने लगे किंतु भगवान की दया से अब वे उसके ऊपर से किसी हद तक ओझल हो गए हैं। और यदि वह इस समय आराम से बैठेगी तो क्या पता पहले की तरह यही साये उसे घेर लें। उसकी जरूरतें बढ़ेंगी और बाद में फिर वही गरीबी।

दीवार घड़ी से 'टन्न' की आवाज सुनाई दी। आशा ने देखा रात का एक बज गया है।

उसको नींद नहीं आ रही है। भला इस हालत में नींद आएगी भी तो कैसे। फिर भी आशा करवट बदलकर लेट गई और दोनों आंखें बंद कर लीं।

किंतु आंखें बंद करने से ही सामने का सब कुछ नहीं धुल सकता। डर, बेचैनी, आशंका।

सिर्फ एक रात। कितने प्यार से उसने आशा के साथ शादी की थी। कितनी उमंग से वह उसको अपने घर लाया था। कितने चाव से उसने उसको अपनी बांहों में भर लिया था और कल सुबह वह उसको तिलांजलि देगा। ठीक है, यदि उसका यही मनोभाव है तो उसको इस घर का कोई आकर्षण नहीं। अगर मेरी नौकरी से उनके आपसी संबंधों में रोड़ा अटका है तो अटकने दो, लेकिन इससे रवि के आदर्शो को कार्य रूप मिलता है। उसके आजाद—ख्याली होने का सशक्त प्रमाण मिलता है। आजकल के इस बदलते जमाने में ऐसे ही विचारों को कार्यरूप

मिलने की आवश्यकता है हमारे समाज में, तभी हमारे सजग होने की संभावना है—आशा का मन इन ख्यालों से डोल गया। मन भी क्या है, दीपक की लौ जिसके आस—पास पतंगें जैसे विचार पहले नाचते हैं और फिर उसी में समा जाते हैं।

इसी उधेड़बुन में न जाने यह क्या हो गया, क्यों हो गया और कैसे हो गया। आशा को लगा कि भूकंप आ रहा है और कमरे की सारी दीवारें गिर कर ढह गई है। हड़बड़ाहट की सी हालत में वह उठी और उसने अपने सामने रवि को देखा।

परेशान, गुमसुम और आंखों में आंसुओं की लड़ी लिए।

आशा ने एक बार रवि की ओर ध्यान से देखा। न चाहने पर भी उसने पूछा—'क्या बात है ?'

'मां ऊपर बेहोश पड़ी हुई है'—रवि ने कहा।

ऐसा सुनते ही आशा के पांवों के नीचे से जमीन—सी सरक गई। वह एकदम खड़ी हो गई और हड़बड़ाहट की सी हालत में रवि से पूछा —'डाक्टर को नहीं बुलाया?'

'हाँ, कहता है उसको शॉक लगा है।'

'शॉक'

'हाँ।'

आशा ऊपर मां के पास गई। वह बिल्कुल बेहोश पड़ी हुई थी। लंबी—लंबी सांस ले रही थी। आशा डर गई। उसकी आंखों से आंसू टप—टप करके गिर पड़े। सच यह मां का ही आशीर्वाद था कि वह आज तक अपने रोजगार पर कायम रही। यदि वह निटू को न देखती तो न जाने नौकरानी की देख—रेख में वह कैसा रहता। उसको अपनी दादी का स्नेह मिला। दोनों एक दूसरे के बिना रह नहीं पाते हैं।

'जरा दूसरे डाक्टर को बुलाइए। देखो निटू को भी कुछ डर लग रहा है।'

निटू भी रुआंसा मां के पास आया और दोनों हाथों से उसका सिर पकड़ने लगा।

इसी बीच न जाने यह क्या हो गया। जैसे अँधेरे में एकदम बिजली—सी चमकने लगी हो। आशा मां की ओर एकटक देख रही थी। निटू का हाथ लगते ही मां ने आंखें खोलीं।

बहुत धीरे, रवि से कुछ कहे बिना आशा मां के पास आ गई। फिर मां की ओर ध्यान से देखकर उसकी गोदी में निटू को बढ़ाया।

मां की आंखों से आंसू बह निकले। उसने सत्तर वर्ष की इस लंबी आयु में कई बच्चों को पाला था, पोसा था किंतु इस समय लगता था कि वह जैसे बांझ थी, उसने किसी को पाला—पोसा नहीं था और जब वह बुढ़ापे में आ गई तो निटू उसका एकमात्र सहारा बन गया। उसने उसको गले लगाया और प्यार से पुचकारा। उस समय उसको लगा कि संसार की कोई अमूल्य वस्तु उसकी गोदी में है।

आशा सामने बैठी हुई है। उसकी आंखों से आंसू झर—झर झरने लगते हैं।

लेकिन मां की आंखें आशा और रवि दोनों की ओर टिकी हुई हैं जो इन दोनों को मानों समझा रही हैं कि दोनों को एक—दूसरे की जरूरत है। इस प्रकार बेमतलब और बेकार गिटपिट करने से कोई लाभ नहीं। दोनों फूल कीचड़ से खिलकर महके हैं और यदि वे एक—दूसरे को नहीं समझ पाएंगे तो समाज में हम अधेड़ों का, जो अब जीवन की आखिरी मंजिल पर चहल क़दमी कर रहे हैं, क्या महत्व रहेगा ?

मां की आंखे शायद यही कह रही थीं।

('भाषा' सितम्बर 1985)

❑

छः

अप-शकुन

आज फिर इन्दु मिली, वर्षो बाद। रास्ते का वही चौक था जहां पर मैनें उसको पहली बार देखा था और वही कपड़े जो उस समय वह पहने थी। इसलिए इस भारी भीड़ तथा धक्कमपेल में यही एकदम अलग प्राणी है–इन्दु–यह पहचानने में कठिनाई नहीं हुई। वह मुझे मिली और कुशल–क्षेम पूछने के बजाय कहने लगी–"विजय! क्यों मेरी बसी–बसायी दुनिया को जान–बूझकर वीरान–उजाड़ कर रहे हो? मुझे दे दो शरण फिर अपनी इन आंखों में, ताकि मेरा प्रत्येक क्षण, प्रत्येक शब्द तथा प्रत्येक उलझन सुन्दर–सा लगने लगे। जिन्दगी जीने के लिए यही मेरा एकमात्र सहारा है वरना आप ही बताइये इन बेबस–बेसहारा सांसों का क्या मूल्य है?"

मैं जानता था कि वह मुझे कभी जरूर मिलकर पकड़ लेगी। उसको मेरी आंखों में स्थान मिलने से क्या, वैसे मैं स्वयं जानता और चाहता भी हूं कि वह मेरे और मेरी पत्नी के आपसी रिश्ते के सीमा–बंधन को तोड़कर फिर मिले। और जब मैंने उसको देखा तो अनकही खुशी के कारण मेरे मुंह से दो शब्द भी न निकले ! किन्तु उसने कहा–"विजय! जरा सुनो, मैं आपके पास वासना की प्यास बुझाने नहीं आती हूँ न आऊँगी। बस, योंही..."

कैसे कहूं, आज तक उसके प्रति मेरे मन में इस तरह का विचार–अंकुर कभी नहीं फूट सका। वास्तव में उसका और मेरा नाता तो कुछ नहीं। केवल मैंने उसको ननिहाल के पड़ोस की शादी में देखा

था जब वह पंद्रह–सोलह वर्ष की थी। उसके बाद वह मुझे काफी अरसे के बाद मिली, पुरानी जान–पहचान उभर आयी और इस प्रकार दोनों में एक नाते की भावना निर्मित हो गयी। फिर भी मैं उसको न तो बहन मानता था और न ही बहन मानने की कल्पना करता क्योंकि मेरी अपनी सगी बहन है। उसको प्रेयसी कहना भी ठीक नहीं रहेगा क्योंकि शादी के बाद ही सही, मैं अपनी पत्नी से प्रेम करता हूं। और हां, उसको एक 'गर्ल फ्रेंड' के रूप में भी स्वीकार नहीं करूंगा क्योंकि अब मेरी वह उम्र नहीं रह गयी है। मैं अपने घर–बार में सुखी हूं, दो बच्चों का पिता भी। किन्तु समझ में नही आता कि आखिर वह कौन सी शक्ति है जिसके द्वारा हम दोनों का भाव–विश्व गुंथ गया है। पिछले कई वर्षो से मेरा उससे न मिलना या उसका मेरे घर पर न आना–यह सब अजीब–सा लगता है।

पर इसमें मेरा कोई दोष नहीं। यदि दोष है तो उस अन्धविश्वास का, जिसका हर नियम हम मानने के लिये तैयार रहते हैं। जीता तो हर कोई है किंतु सही जीने का नियम वह नहीं जानता। हर किसी के लिए मृत्यु निश्चित है किंतु सभी जीने की ही कल्पना करते हैं फिर भी इसके नाम से घबराते है। इससे दूर भागने के लिए सारी उम्र प्रयास करते हैं। किंतु मृत्यु––यह एक अवश्यंभावी सत्य है और इससे दूर भागना मनुष्य–मात्र की कायरता है। ऐसा सोचकर जब मुझे इन्दु का ख्याल आता तो ये सभी बातें पहेलियों–सी लगती। पिछले कई महीने से मैंने कई मृत्यु समाचार सुने, कई अमवात आंखों देखीं। सोचता हूं, जीवन के इस खेल के बीचों बीच एक इन्सान कैसे उठा लिया जाता है ? क्या उसको मृत्यु की खबर लग जाती है ? और फिर आधे छोड़े खेल का क्या हो जाता है ? खेल रचने का भी कोई अर्थ है ?

किंतु कौन समझाये कि इसका भी अपना अर्थ है। जीवन की बलिवेदी पर किसी का मृत्यु के सीने से लग जाना निरर्थक नहीं। इसका सार तो मुझसे ज्यादा इन्दु ही जानती है। जिसका पता मुझे उस दिन चला जब वह मुझे हब्बाकदल पुल के इस पार पहली बार मिली। मैं चौंक

गया उसको देखकर। शादी के पहले का उसका वर्ण ! किंतु आज वह विवाहिता थी। एक प्रौढ़ स्त्री। सफेद साड़ी पहने। सादा जूड़ा बनाये हुए। ललाट पर बिंदिया नहीं थी। चाल में अजीब भारीपन था। इस पर भी मुझे लगा कि यह इन्दु है और मैं रुका। जब वह बिल्कुल मेरे सामने से गुजरी तो मैंने आवाज देकर सिर झुकाते हुए पूछ लिया––'माफ कीजिए। आपका नाम तो....'

'इन्दु है। हां, आपकी यादाश्त सही है।' उसने बात को काट कर कहा।

'इधर कहां ?'––मैंने आश्चर्यचकित होकर इस प्रकार पूछा जैसे उसको कई वर्षो से जानता था।

'यहीं आस–पास के मोहल्ले में रहती हूं और पहले कलकत्ता में थी किंतु...'–उसने कहा।

सच मानिए, मैंने कलकत्ता के सिवाय और कुछ नहीं सुना क्योंकि सिरे से लगे ठेले वालों का शोर सबों के कान काट रहा था। बात को टाल कर बस यों ही कहा–'कलकत्ता से कब आयी हो ?'

'बस, छः–सात महीने हो गये'–उसका छोटा–सा उत्तर था।

इतने में वहां भीड़ बढ़ने लगी। धक्कमपेल ! हम सड़क के एक तरफ एक–साथ चलने लगे। चुपचाप! मैं सोच रहा था कि उसको अपने घर पर बुलाऊँ, इतने में वह बोली–'आप भी शायद यहीं–कहीं रहते हैं ?'

'हां, उस गली के छोर का आखिरी मकान'।–मैंने अंगुली से दिखाते हुए तथा चेहरे पर मुस्कान बिखेर कर कहा।

'अच्छा'–उसने पहले आश्चर्य प्रकट किया। फिर कहने लगी–'तो फिर आपके घर जरूर आऊंगी।'

'बिल्कुल, आ सकती हैं'–मैंने चेहरे पर फिर मुस्कान लाकर कहा, 'किंतु एक बात मैं भूल गया'–मैंने आत्मीयता से कहा।

'क्या ?'–उसने उत्सुकता से पूछा।

'तुम्हारे मिस्टर न...वे क्या करते हैं ?'–मैंने उसकी ओर ध्यानपूर्वक देखकर कहा।

यह सुनकर उसके पांव कुछ लड़खड़ा गये। चेहरा फक् पड़ गया। फिर आंखें नीचे झुकाये, लम्बी सांस लेकर वह कहने लगी–'वे अब नहीं रहे। कलकत्ता में उनका....'

मै हत्बुद्धि–सा होकर रह गया। कहा–'क्षमा कीजिए। मुझे पता न था।'

मुझे यह सब कुछ अजीब–सा लगा। बुरा भी। उसको दुःख हुआ। अभी–अभी उसका मुस्कान बिखेरता चेहरा और कुछ क्षण में ही उस पर यह पीलापन। फिर भी वह संभल गयी और पग धीरे–धीरे आगे की ओर बढ़ाकर सामने वाली गली के नुक्कड़ पर सहसा रुकी। कहने लगी–'मुझे इस गली से जाना है। कभी आऊंगी मैं आपके घर। इसी से जान–पहचान होती है न ! कुछ तसल्ली भी।'

'जरूर आना, मेरी कसम। और हां, मैंने तुमको बेकार ही...

उसका चेहरा फिर अजीब–सा हो गया। उग्र और व्याकुल। फिर वह गली की ओर मुड़ी और मैं उसको तब तक देखता रहा जब तक वह इसके अंतिम छोर तक न पहुंच गयी। मैंने उसके दुःख को पहचान लिया था और अब स्वयं दुःखी था।

किंतु यह मात्र अहसास था। इस प्रकार की किसी दुखियारी के प्रति मन में सहानुभूति का उद्घोष होना स्वाभाविक है। मगर मेरी समझ में नहीं आता कि जब पत्नी ने यह सब सुना तो वह थर–थर क्यों कांप गयी। उसने खूब आंसू बहाये। फिर मेरी ओर ऐसे देखा जैसे मैं कोई खोयी हुई वस्तु था जो उसने फिर से पा ली है। किंतु मैं खोया हुआ नहीं था बल्कि उसके सामने था। साकार रूप में ! हट्टा–कट्टा ! स्वस्थ!

मुझे उसका यह रूप देखकर अजीब–सा लगा। आश्चर्य भी कुछ कम नहीं हुआ। कुछ क्षण के लिए उसकी ओर देखता ही रहा। बाद में, बात को छेड़ कर कहा–'जीवन बहता पानी है। तू मान या न मान। इन अकस्मात मौतों की भी अपनी रंगीनी है।'

'अप–शकुन'–उसने मेरे मुंह पर हाथ रखकर विनती की कि

ऐसा प्रसंग फिर से मत छेड़ो। मेरा चेहरा तमतमाया। समझ में कुछ नहीं आया कि वह क्या कह रही है। मतलब क्या है उसका इस तरह कहने में! मेरा मन एकबारगी दूसरी तरफ मुड़ गया। सोचने लगा कि यदि इस पल मेरी अकस्मात मृत्यु हो जाए तो जिन्दगी का खेल वह कैसे खेलेगी? और फिर कब उसके मन में अप–शकुन का यह भयावह अंधकार प्रकाश में बदल जाएगा ? किंतु मैंने मन से यह ख्याल एकदम निकाल दिया और भगवान की कृपा से अब तक प्रतिक्षण मेरी सांसें चलती हैं। जिन्दगी बहती है एक निर्झरी की तरह और बहती जाएगी, शायद तब तक जब तक इसका स्रोत सूख न जाए। किंतु इसकी बहती निर्झरी में जो घटनाएं बड़े–बड़े गोलाकार पत्थरों की भांति इसकी निचली सतह को ठोस बनाने में सहायक सिद्ध हुई है, उनमें इन्दु के साथ हुई यह घटना भी शामिल है।.....

वह मेरे घर नियमित रूप से आने लगी। अपने को खुश करने या मेरी पत्नी को रुलाने। या यह दिखाने कि उसका पति चल बसा है और मैं प्रति क्षण मौत को टालकर बच रहा हूं। एक दिन वह यों ही कहने लगी––"कल भाभी को आसमानी रंग की साड़ी पहने आपके साथ नाज–व–अंदाज से नये अमीराकदल पुल पर चलते देखा तो मैंने भी उसी रंग की साड़ी खरीदकर पहनी और उसी नाज–व–अंदाज से डग भरते हुये पुल को पार किया–एक बार, दो बार और तीन बार। किंतु मेरे साथ और कोई नहीं था"–उसने मेरी ओर देखा और चेहरे पर एक अजीब–सी मुस्कान बिखेर ली। किंतु मैंने सिर झुका लिया। इसके बाद वह उठी और मेरे कमरे में झाड़ू लगा दिया। मेरे कपड़े खूटियों पर सलीके से रखे। मेरे दोनो बेटों को खूब चूम कर प्यार दिया। और अंत में मेरे छोटे–से रसोईघर में आकर पत्नी के हाथ से बर्तन छीन लिये और उनको मांजने लगी।

यह कैसी स्फूर्ति! यह कैसा व्यवहार! उस वक्त उसको देखकर ये सारे प्रश्न मेरे मानस–पटल पर आ धमके। समझ में कुछ नहीं आया, ऐसा क्यों है? पत्नी मेरी ओर देखने लगी, किंतु मैंने सिर झुका लिया।

फिर भी मुझे कुछ आश्चर्य नहीं हुआ। कौतुक–सा होने लगा। पति–सेवा, घर–गृहस्थी, बाल-बच्चे–यह सब तो उसने देखा नहीं है। इसलिए तो उसको मेरा घर–बार देखकर खुशी महसूस हो रही है। ऐसा भी हो सकता है कि वह मुझमें पति की, मेरी पत्नी में अपनी और मेरे बच्चों में अपने बच्चों की छवि देखती हो। और हां, इस समय तो मुझे इस बात की सर्वाधिक खुशी हुई कि उसके व्यवहार में खुलापन आने लगा है। उसमें सब कुछ अच्छा–अच्छा–सा लगने लगा और उसके चले जाने के बाद जब मैं पत्नी को यही बातें सविस्तार समझाने लगा तो वह मेरी एक भी सुनने को तैयार न हुई। उसके मुंह से केवल एक शब्द बार–बार निकला–'अप–शकुन!'

अप–शकुन क्यों?–मैंने यह बात बार–बार उससे पूछी किन्तु वह इसका सही–सही उत्तर न दे पायी। केवल अपनी सूझ–बूझ से इन्दु के लिए घर के द्वार बन्द कर दिए और मुझ पर निगरानी कड़ी कर दी और यहां तक कि एक ऐसा वातावरण बनाने में सफल हो गयी कि मैं इन्दु से न मिल पाऊं। जैसे मेरा उसके साथ नयी शादी करने का विचार हो और वह इस बात से डर रही हो।

किंतु आज मुझे इन्दु मिली, वर्षो बाद। यदि पत्नी को इसका पता चले, सोचता हूं वह जरूर अप–शकुन कहेगी। अप–शकुन–एक अपराध भावना! दिल में छुपा हुआ डर! एक दकियानूसी ख्याल! आत्मा का बोझ–मात्र––इससे बढ़कर मेरे पास इस शब्द का कोई नया अर्थ नहीं है। यदि कोई जीवन के बल ना जी पाये, उसके जीवन की रुकी हुई धड़कन टिक–टिक करने लगे, मुर्झाया चेहरा फिर से मुस्कान बिखेर दे तो इसमें क्या दोष! यह सोचकर न जाने मैं किन बियाबानों में भटक जाता हूं। मेरे मन में ये सभी बातें एक गुत्थी–सी बनकर रह जाती हैं जिनका कहीं कोई समाधान नहीं.....।

आखिर ऐसा कब तक? पग–पग पर मुझे पत्नी के आदर्शो का पालन कब तक करना होगा। मेरे भी तो अपने आदर्श हैं, उसूल हैं। और जिसकी बेबस, बेसहारा सांसें मुझे देखकर चलती हैं, मैं कोई ऐसा

संबल नहीं जुटा पाता जिससे उसके लिए ऐसा कुछ कर सकूं कि उसकी इच्छापूर्ति हो सके। किंतु आज मैं पूरी तरह जान गया हूं कि इन्दु की वीरानी मेरी वीरानी है—यह बात मेरी पत्नी को भी अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए। उसके मन में मेरे साथ 'प्रेम–रस का जो भारी–भरकम पेड़ उग आया है, क्या इन्दु की अनुपस्थिति में उसकी डालियां अपने–आप सूख जायेंगी और अंत में क्या होगा, विकलांग पत्ते इसको बेडौल बनाएंगे और प्रतिवर्ष नौ–बहार में भी इसके सर–सब्ज होने का प्रश्न ही उत्पन्न न होगा।'

नहीं, मैं ऐसा नहीं होने दूंगा। अभी मुझे इस पेड़ के हजारों बहार देखने है। यह तभी संभव है जब इन्दु फिर मेरे घर आयेगी। मैं बड़ी व्याकुलता से उस दिन की प्रतीक्षा कर रहा हूं जब उसके साथ पहले की तरह भागती मुलाकातों का सिलसिला शुरू हो जाएबा! वह यहां आये मेरी जिन्दगी देखने, मेरा अस्तित्व परखने। और यह सब देख मेरी पत्नी के मन में उसके प्रति बंधी अप–शकुन की गांठ अपने आप खुल जाए....आह! कब आयेगा वह दिन?....

(शीराजा, मार्च 1983)

❑

सात

आपने मुझे नहीं पहचाना

मैं ... हाँ मैं... मैं तो यहीं हूं। लेकिन मैं टूट कर चूर–चूर हो गया हूं। इससे जरूर मैं, मैं नहीं रह गया हूं। मेरा अस्तित्व मिट कर रह गया है और मैं पूछता हूं वसंती देवी, मेरे इन टुकड़ों को ऐसे दत्तचित्त और तल्लीन होकर क्यों देख रही हो? अब मैं फर्श पर बिखर कर टुकड़ों में बंट गया हूं। इनमें अब आप अपनी छवि नहीं देख सकतीं। मेरा काम अब खत्म हो गया। किंतु सोचता हूं जब मैं इस दो खिड़कियों वाले छोटे कमरे की दीवार पर लगा हुआ अपने आदमकद आकार में खड़ा था तो आप मुझे देखकर कितनी खुश हो जाती थीं और मैं--मैं भी आपको ध्यान से देखता और आपकी हर कमी का अहसास देता। दरअसल मेरा काम भी तो यही था। शायद भगवान ने मेरी उत्पत्ति ही इसीलिए की हो, कुछ कह नहीं सकता। मैं दूसरों को देखता हूँ और अन्य मुझे देखकर अपने को देखते हैं। आप भी देखती थीं अपनी तन को नहाने के बाद जब मेरे सामने बैठती तो अंग–अंग निहार कर, फिर उन पर पाउडर मल कर अपने सारे शरीर को संगमरमर की बनी मूर्ति में बदल देतीं और मुझ में अपनी छवि देखकर खुशी से मचल जाती। उस समय मैं सोचता कि कैसा धोखा करती हो अपने साथ! किंतु मैं कुछ भी कह नहीं पाता था क्योंकि मैं बे–जुबान था न। कुछ भी बोल नहीं पाता था। अब मैं टुकड़ों में बँटकर आपके सामने पड़ा हुआ हूं और आप इनको ऐसे क्यों देख रही हो? अब इनमें अपना अंग–अंग निहारने की कोई

गुंजाइश नहीं। हां, अब मैं आपका मन टटोल कर सब कुछ कहने पर विवश हूं क्योंकि आपने मेरे पहाड़ जैसे आदमकद को पछाड़ दिया है। पर सुनिए, आज अपनी ड्यूटी या आफिस न जाइए।

ओह, इस तरह मेरे इन टुकड़ों को मत देखिए वसंती देवी। देखिए, आज का यह दिन कितना सुंदर है। कुछ ही दिनों के बाद बसंत बीत जाएगा। बाहर इस समय तरह–तरह के फूल खिल उठे हैं और सवेरे की यह स्वच्छ धूप कितनी स्वाभाविक–सी लगती है। वंसती देवी, आप अपने फूल जैसी किशोरावस्था को–अपने पूर्व एवं पहले के अतीत को क्या इसी बीच भूल गईं? आपके जीवन के वे दिन कैसे सुहावने थे! अपने मकान के बरामदे में टहलकर आपका रूप लावण्य देखकर किसी के दिल की धड़कन तेज हो जाती थी। इस तरह से आप किसी का दिल जीतने की कोशिश कर रही थीं और दिन में मेरे पास कई बार आकर सतर्कता के साथ अपने को सजाती–संवारती थीं। लेकिन हाय...आज आपके पास सब कुछ है, लेकिन वह नहीं है।

वह नहीं है तो क्या हुआ। आपका और भी कोई न कोई हो सके, ऐसी बात नहीं है। किंतु इस दुनिया में क्या कोई ऐसी वस्तु या शै भी है जो आपको मेरे इन उजले–उजले टुकड़ों के सामने से हटा कर बाहर ला सके? लगता तो नहीं। लेकिन सोचता हूं फिर किसका मोह, कौन से आकर्षण ने यहां आपको बांधकर रख दिया है? आपकी गहरी–काली पुतलियों में से झांक क़र देखने के बाद कुछ नजर आ रहा है। विस्मय–नहीं, क्रोध–नहीं, जलन–नहीं, पीड़ा या तीव्र वेदना जिसने आपके मन को पंगु बना दिया है, वह भी तो नहीं। तो फिर क्या है वसंती देवी, जिससे आपके अबोध मन की गहराई नापने में मुझे मुश्किल सी हो रही है।

मेरे सामने से हटिए वसंती देवी। मेरे इन टुकड़ों के सामने आप सुबह से बैठी हो, आशंका है अब ज्यादा देर तक टिक नहीं सकती। मैं अच्छी तरह जानता हूं कि आपके पैर कांप रहे हैं, दिल

की धड़कन तेज हो रही है। ऐसा लगता है कि सिर में चक्कर आकर गिर जाओगी। जरा अपने को संयम में रखकर ऐसा न होने दें। इससे उलटा आपको ही दुःख होगा, वेदना बढ़ेगी। बिस्तर उस कोने में लगा हुआ है, उस पर आराम से लेट जाइए। मुझे आपके मन रूपी पहाड़ को बारुद के एक बड़े ढेर से चीर–फाड़ करना है।

किंतु यह काम भी आसान नहीं लगता। खासकर बीसवीं शती में इसकी ओर थोड़े से लोगों का ध्यान आकृष्ट होता है। वरना कौन किसी की बात समझने की कोशिश करता है। आजकल सब अपना ही सोचते हैं। दूसरों का सुनने–समझने के लिए किसी के पास समय नहीं। मेरे पास भी समय नहीं था क्योंकि मैं दूसरों को उनकी सूरत दिखाने में व्यस्त रहता। एक ड्यूटी–सी लगी रही थी मेरी। किंतु अब मैं टुकड़ों में बंटकर आजाद हो गया हूं। आपके संबंध में वैसे तो मैं कुछ नहीं जानता, तो भी थोड़ा बहुत तो जानता ही हूं। तो हां, कल दिन के चार बजे इस दुमंजिले मकान की इक्कीस सीढ़ियां चढ़कर आपने इस कमरे में शरण ले ली। बहुत गुमसुम थीं। क्यों? उस समय यह मेरी समझ में भी नहीं आया। किसी ने आपको बुलाया किंतु आपने कोई उत्तर नहीं दिया। देती भी कैसे? मन में चेतना तो थी नहीं। सारा शरीर जल रहा था। आग की तरह, धधकता हुआ। फिर भी आपका यह शरीर थर–थर कांप रहा था। आपको हर तरफ अंधेरा ही अंधेरा दिखाई दिया। कोने में पड़ी खाट पर आप छटपटाने लगीं। आंचल से हवा की, लेकिन सब व्यर्थ! तब ऐसा लगा था कि यह असहनीय जलन कभी खत्म नहीं होगी। अनिंद्रा की सी हालत में लेटी हुई आप न जाने सोच के किन बियाबानों में भटक कर अपना रास्ता तलाश करती रहीं, लेकिन आप अपना रास्ता खो चुकी थीं। फिर भी यह कैसा तूफान है जिसने पेड़ों के मूल उखाड़ दिए, पानी में असंख्य लहरें उत्पन्न कर दीं और पहाड़ के भारी–भरकम पत्थरों को जमीन पर गिरा दिया। ओफ! आपके मुंह से एकदम निकल गया। क्षोभ और विरक्ति से आपकी आंखों में आंसू आ गए। सिर के बालों

को नोच–फेंक देने की इच्छा हुई। ओह! मैं पागल हो जाऊँगी। इस शीशे ने मुझे पागल बना दिया है। यही कहते–कहते वसंती देवी, आपने एक घूंसा मारकर मुझे देखते ही देखते चूर–चूर कर दिया। मैं एकदम टुकड़ों में बंट गया। अस्तित्वहीन हो गया। किसी काम का नहीं रह गया। संसार लुट गया। मेरा कोई मूल्य नहीं रह गया।

किंतु सोचता हूँ वसंती देवी, यह सब आपने क्यों किया! अपने चेहरे के विषय में आप जो राय रखती थीं, वह सब मुझे देख कर ही कायम की थी। आप मुझे देखकर ही अपने को हूर की परी समझती थीं। वैसे तो हर किसी की राय एक जैसी नहीं होती और न किसी से अपनी राय मनवाना अपने बस की बात है। हर कोई अपने ही ढंग से सोचता है। यह जानकर भी आपने ऐसा क्यों किया? चलिए, मैं आपके हाथों से बिखर कर रह गया लेकिन मुझे इस घटना से पहले के कुछ घंटों से शुरू करने दीजिए। हां, तो सुनिए न वसंती देवी, कल दस बजे आप कहां थीं? हां, कल तो किसी की शादी का दिन था। शादियों का मौसम है न आजकल। लेकिन इस तरह के साधारण पहनावे में आपको वहां नहीं जाना चाहिए था। न बालों की कंघी–चोटी की थी न ही चेहरे पर पहले की तरह पाउडर लगाया था। आंखों में मामूली काजल लगाना भी आपने पसंद नहीं किया था। उस शादी में जिस किसी ने भी आपको देखा हो, उसको आश्चर्य हुआ होगा। आप तो विवाहोत्सव में भाग लेने के लिए गई थीं, किसी सहेली के नहीं, अपने एकमात्र अशोक के विवाह में। जाने कितनी बार सोचा था जाऊँ कि न जाऊँ। अपने अंदर की बेचैनी को छुपाने के लिए मन को कई बार डांटा–डपटा भी था, फिर भी आप उनके विवाहोत्सव में भाग लेने के लिए गईं। उस समय अपने को रोक नहीं पाई थीं। दरअसल बात यह है कि मन पर काबू पाना आसान काम नहीं। मन को पारा समझिए जिस पर विश्वास नहीं, कब इसके टुकड़े–टुकड़े हो जाएं और कब उन टुकड़ों का एक बार फिर आपस में एकाकार हो जाए। मन तो उग्र है, अशांत है और असंयत है। अब

जाना कि अशोक के विवाहोत्सव में जाने से पहले कल सुबह आपका मुख क्यों फीका और उतरा हुआ था।

अशोक तो आपके जीवन में बिल्कुल आकस्मिक रूप से आया था। आपने उसको देखा और शायद खुश हों गयी पर सोचता हूं वसंती देवी, उससे आपको वह क्या मिला जिससे आपके जीवन की रंगीन फुलवारी महकने लगे किंतु इसके साथ ही आपके जीवन ने एक दुखद कहानी का अंत पकड़ लिया। किन्तु आपको क्या पता था कि ऐसा कभी हो सकता है! आपने तो आफिस में अपने अशोक को देखा था और वह भी एक सहकर्मी के रूप में। लम्बा कद, गठीला बदन, गुंदमी रंग, न जाने और क्या आपने पाया उसमें कि आप उस पर एकदम आसक्त होने लगी। वह आपको बहुत अच्छा लगने लगा। परंतु वसंती देवी, अच्छे लगने में एक बहुत बड़ी खराबी होती है। यही तो अंत में प्रेम करने में सहायक सिद्ध होता है। आपने भी उससे प्रेम किया। प्रेम करने के भी कई प्रकार हैं और आपने इसका जो तरीका अपनाया उसमें प्रतिदान की भावना तो नहीं के बराबर थी। अशोक है, ठीक है। उसके साथ दो मन एक प्राण होने की भावना से आपका संबंध होता रहे, इससे बढ़कर कोई प्रत्याशा शायद आपकी नहीं थी। पर अशोक ने क्या कभी आपके साथ प्रेम किया वसंती देवी? लगता तो नहीं है। आपका जो रूप–लावण्य है, उसको देखकर एक कवि को कविता लिखने की प्रेरणा मिल सकती है। लेकिन चेहरे पर ये काले–काले दाग। हाँ, इसीलिए तो आप मेरे पास आकर दिन में चार बार पाउडर मलकर अपने को सजाती–संवारती थीं। बाद में अशोक के पास जाकर उसको बहलाने की कोशिश करतीं। वह आपको ध्यान से देखता रहता और फिर सिर झुका लेता। मैं यह नहीं कहता कि उसने आपको 'कंपनी' देना भी पसंद नहीं किया। उसने तो आपको 'कंपनी' के तौर पर वह सब कुछ दिया जो आपका होने वाला प्रेमी भी नहीं दे सकता था। उसने यह सब कुछ, अपनी तृष्णा दूर करने के लिए नहीं बल्कि आपकी तृष्णा मिटाने के लिए दिया। आपने उसको

जो कुछ कहा, वह उसने पूरा किया। फिर भी अंत तक उसने आपका साथ नहीं दिया। वैसे तो वह ऐसा नहीं कर सकता था। यह सब मात्र आंपके दिल बहलाने के लिए किया जाता था किंतु आपने क्या कभी ऐसा सोचा वसंती देवी? आपको अपनी उस कमी का कोई अहसास नहीं था। आप तो मेरे पास आती थीं और मुझ में अपनी छवि देखकर खुशी से मचल जाती थीं। उस समय मैं कहना चाहता था कि यह छल है, धोखा है। पाउडर मलने से कहां तक आपके चेहरे के काले–भद्दे दाग छिपे रहेंगे? जमाना बदल गया है। आजकल तो शादी उसी के साथ की जाती है जिसके पास सूरत भी हो, सीरत भी। आत्मा का आत्मा के साथ क्या कभी मिलन हुआ है? मेरे ख्याल में ये आजकल कहने की बातें नहीं रह गई हैं। आजकल की इस रंगभरी दुनिया में वास्तविकता कुछ और ही है। उस समय मैं यही कहना चाहता था, कुछ इसी तरह समझाना चाहता था किंतु कह नहीं सकता था। आप मुझमें अपनी शक्ल–सूरत देखती थीं और मेरा काम था आपको यह अहसास देना कि आपके चेहरे पर काले–भद्दे दाग हैं जो पाउडर मलने से छिप नहीं सकते। किंतु उस समय आपने मुझे नहीं पहचाना ओर आपने बीस वर्ष के अंतरंग मित्र को, जिसके बिना आपको एक पल रहना असंभव सा लगता था, अपने ही हाथों से मारा, टुकड़ों में बांट दिया।

वसंती देवी, मैं जानता हूँ कि आपने शायद अपनी प्रेम–कहानी की दुखःद परिणिति की आशा नहीं की थी। इसलिए एकाएक एक दिन जब अशोक ने आपको अपनी शादी के बारे में कहा और विचित्र भाव से मुस्कराते हुए विवाहोत्सव में भाग लेने को कहा तो आपकी आंखों के आगे एकदम अंधेरा छा गया, पांव तले से जमीन सरक गई। किंतु दूसरे ही क्षण जब होश संभाला, अशोक नहीं था। उस समय आपने चुपचाप सहन किया, उसी तरह आज सहज और स्वाभाविक रूप में अपने को, अपने मन को क्यों नहीं कर पा रही हैं?

दस बज गए वसंती देवी! आफिस का टाइम हो गया। अब इस प्रकार बे–मतलब समय नष्ट करने से कोई लाभ नहीं। मुझे पता है कि आप अपना बचा समय मुझ में अपनी छवि देखकर व्यतीत करती थीं लेकिन अब मेरे इन टुकड़ों को शून्य दृष्टि से देखने पर कुछ नहीं मिलेगा। सब व्यर्थ है। मैं जानता हूं, इस समय आप क्या सोच रही हैं लेकिन आपने जिस पथ पर चलने का निश्चय किया था, उससे अब कंब की भटक गई हैं। अब सोच के बियाबान में घूमने से वह तो आपको नहीं मिल सकता। आपको अब नया रास्ता खोज निकालने की जरूरत है, एक नए जीवन–साथी को ढूंढ़ना है। मैं भी चाहता था कि आपको एक सजी–संवरी दुल्हन के रूप में देखूं। दुल्हन बनने पर तो आप सबसे पहले मेरे पास ही आतीं किंतु ऐसा अब संभव नहीं क्योंकि आपने मुझे नहीं पहचाना मैं क्या था। खैर, इस कमरे में मेरे स्थान पर कोई दूसरा शीशा तो जरूर आएगा ही किंतु वसंती देवी, सामने फर्श पर बिखरे हुए इन टुकड़ों में से कोई बड़ा सा एक टुकड़ा संभाल कर रखिए। दुल्हन बनने के बाद अपने माथे पर चमकती हुई बिंदिया उसी में से देख लेना। कल रात से इस समय तक जो बात एक प्रश्न चिन्ह, बनकर आपके मन को दीमक की तरह खाए जा रही है, क्या पता, किसी समय मेरे बदन का यही टुकड़ा उस प्रश्न का उत्तर दे सके।

('सन्डे–मेल' मार्च 1990)

❑

आठ

ज़ख्म

आज राधा को पल भर भी फुर्सत न थी। सुबह से ही वह मकान को साफ करने में लगी थी। उसने अलमारियों में किताबें करीने से रखीं, ड्राइंग–रूम की खिड़कियों के शीशे साफ किये। दीवारों की धूल झड़वाकर सफेदी की और रंगारंग फूलों से भरें बगीचे से फालतू घास का एक–एक तिनका काट दिया।

सारा घर एकदम बदल गया। हर चीज नयी–नयी सी दिखने लगी। रत्न यह सब देख रहा था। आश्चर्य भी उसको कुछ कम नहीं हुआ। शादी के बाद यह पहला अवसर था जब उसको महसूस हुआ था कि राधा उसके घर में जम गयी है। वैसे उसको यहां आये दो साल हो गये,तब से उसने कभी नहीं सोचा कि यह उसका अपना घर है। और हद तो यह कि इस कालावधि में उसने अपने कमरे में पत्नी के साथ आठ–दस रातें ही गुजारी थी। मन में आया, पूछे कि आज यह क्या हो रहा है। किंतु बाद में सोचा कि उसका मूड खराब हो जाएगा। मजबूर होकर वह देखता रह गया।

हां, यह उसकी मजबूरी थी।

और इसी मजबूरी ने आज फिर उसको ड्राईग रूम में लगे आदमकद आईने के सामने खड़ा कर दिया। वह ध्यान से अपना चेहरा देखने लगा। दूसरी ओर राधा ड्रेसिंग–टेबुल के सामने अपने को सजाने–संवारने में लगी थी।

'राधा! आज क्या खास बात है?' रत्न ने आखिर पूछ ही लिया।

'आज मेरा जन्म–दिन है।'–राधा का छोटा–सा उत्तर।

यह सुनकर रत्न को आश्चर्य हुआ। उसको इस बात का बिल्कुल पता न था। वैसे पिछले दो वर्षोसे वह लगभग मायके में ही रही। इस घर में तो यह इसका पहला जन्म–दिवस था। फिर भी उसको इस बात का पता होना ही चाहिए था। राधा ने बुरा तो नही माना?

'मुझे बिल्कुल पता न था'–रत्न ने कहा। 'कोई बात नहीं, अब भी समय है। मैं....'

'नहीं, नहीं, मुझे कुछ नहीं चाहिए'–राधा ने पति की बात काट कर कहा।

रत्न को लगा कि जैसे शिकारी ने उसके दिल में तीर चलाकर आहत कर दिया है।

दूसरे ही क्षण राधा बोली–'उपहार देने की बजाय आप एक उपकार कीजिए।'

रत्न की आंखे चमक गयीं। अब की बार दिल की धड़कन तेज होने लगी–'बोलो, क्या काम है?'

'शाम को आप कहीं न जाएँ।'

'क्यों?'

'वह आयेंगे, डिनर पर।'

'कौन?'

''मोहन!''

रत्न को एक बार फिर आश्चर्य हुआ। कुछ क्षण कमरे में चुप्पी का सा वातावरण छाया रहा। राधा पति की ओर देखकर सब कुछ ताड़ गयी। बोली–'ऐसा मत समझिए कि इसमें कोई राज है। लड़कपन का दोस्त है न हमारा।'

'कोई बात नही'–रत्न ने कहा। अन्तस्तल में वेदना की जो आग धधक उठी, उसने उसे अन्दर ही अन्दर दबा दिया।

मोहन की प्रतीक्षा में बैठा रत्न न जाने कब से विचारों में उलझ गया था। फिर भी उसके लिए यह कोई नई बात नहीं थीं।

अब भी उसको याद है वह दिन जब वह मोहन की शादी के सिलसिले में उसके घर गया था। वहां वह पहले यह निर्णय ही न कर पाया कि मोहन के साथ कैसे बात की जाये। गुमसुम सा दिख रहा था वह। उसके चेहरे पर परेशानी के आसार साफ दिखायी दे रहे थे। फिर भी उसने कहा था–'क्या बात है?'

मोहन को लगा कि जैसे उसको किसी ने गहरी नींद से बेदार कर दिया हो। उसका सारा शरीर पसीने से तरबतर था। रत्न को देखकर उसकी आंखे छलक आयीं। बोला–'कुछ नहीं, बस, तुम मिले तो एक आस बंध गयी।'

'आखिर बात क्या है?'––रत्न ने एक बार फिर अपना प्रश्न दोहराया।

'कुछ नहीं। तुमको शादी करनी पड़ेगी, तभी मैं इस उलझन से निकल सकता हूं।'–मोहन ने कहा।

रत्न को आश्चर्य हुआ। कहा–'क्या बकते हो? तुमने क्या कभी सोचा भी है कि मुझसे कौन शादी करेगा!'

'मेरी वह...' मोहन ने जैसे रहस्य खोल दिया।

'राधा?'–रत्न ने इस प्रकार कहा जैसे उसको विश्वास ही न आ रहा हो।

'हां, वही'–मोहन ने एक बार फिर जोर देकर कहा।

'किसकी मर्जी से।'–रत्न ने पूछा।

'मेरी मर्जी से।'–मोहन का उत्तर।

रत्न कुछ नही बोल पाया। सोचा, क्या कह रहा है वह! लड़की की मर्जी जाने बिना वह कैसे इस बन्धन में बन्ध सकता है! तिस पर भी वह मोहन को ही चाहती है।

लेकिन वही हुआ जो मोहन ने कहा था। राधा ने मोहन की मर्जी के आगे समर्पण किया। क्यों? उस समय रत्न यह सब जान नही पाया।

यह शादी एक तरह का समर्पण था अपने अरमानों का! बलिदान

मात्र! इन दो वर्षों में रत्न को अपनी पत्नी से जिस आत्मीयता की अपेक्षा थी, वह उसे नहीं मिली। वह हर पल उसके प्यार के लिए तरसता रहा। तिस पर भी राधा अपने पति से हमेशा दूर–दूर एवं निर्लिप्त–सी होती चली गई थी।

वह हमेशा बेकरार–सा होता रहता। खास कर उस समय जब राधा उसके घर में होती और उसकी ओर आंख उठाकर भी न देखती। अपनी ओर से उसने उसके निकट आने के कई तरीके आजमा लिये, किन्तु सब व्यर्थ! उपाय जब बेकार सिद्ध हो जाए तो अपने–आपको झूठी तसल्ली देकर ही संतुष्टी मिलती है। रत्न भी यही सोचता कि क्या पता राधा एक दिन उसके बहुत निकट आकर, अपने और उसके बीच की खाई को पाट कर, उसके गले लग जाएगी और खूब आंसू बहाकर कहेगी कि उसका सारा विगत व्यर्थ हो गया।

...यह सपना है उसके अन्तर्मन का।

शाम के आठ बजे मोहन आ गया। ड्राईंग रूम में ज्यों ही उसने रत्न को देखा तो वह बहुत खुश हुआ। वैसे दो साल हुए थे दोनों को एक–दूसरे को मिले।

'हैलो रत्न! क्या हाल है?'

'मजे में हूँ। आप सुनाइये?'–रत्न का उत्तर।

'अजीब इत्तेफाक है। परसों राधा हब्बाकदल चौक पर मिली और डिनर पर आने के लिए कहा।'

अजीब इत्तेफाक!

'इत्तेफाक नहीं। मैंने ही राधा को कहा था कि आज वह आपको डिनर पर बुलायें'–रत्न ने कहा।

'वंडरफुल! मगर मेरी सुनीता जो मन में आये, करती है। मुझसे सलाह लेने का सवाल ही पैदा नहीं होता।'

'पत्नी के लिए पति परमेश्वर समान होता है, यह सब राधा अच्छी तरह जानती है'–रत्न ने फीकी हंसी के साथ कहा।

'आपकी पत्नी एक आदर्श नारी है!'

'और आपकी पत्नी अपनी इच्छाओं की दासी है।'

दरवाजे के एक तरफ खड़ी राधा दोनों की बातों को ध्यान से सुन रही थी। अपनी प्रशंसा के दो शब्द सुनकर वह अपने–आप पर जितना खुश हुई उतनी ही नाराज भी। नाराज इसलिए कि प्रशंसा के पुल उसका पति बांधता था। क्या पड़ी है उसको ये सब बातें कहने की ज़बकि ये सत्य से कोसों दूर है। एक ओर बात उसको लग गयी, वह यह कि मोहन के लिए वह बेतहाशा इन्तजार कर रही थी और वह यहां आकर अपनी पत्नी के बारे में बतिया रहा था। निराश हो, वह कमरे में चली आयी–

'हैलो मोहन!'–राधा ने होठों पर फीकी हँसी लाकर कहा।

राधा को देखकर पहले मोहन चौंक–सा गया। कुछ क्षण बाद कहा–'हैलो!'

राधा फर्श पर बैठ गयी। रत्न आंखे फाड़कर पत्नी की ओर देखता रहा क्योंकि इस समय उसने अपने साज–सिंगार में कोई कमी नहीं रहने दी थी। पत्नी की सुन्दरता ने आज पहली बार रत्न को चकाचौंध कर डाला। इसके विपरीत मोहन ने राधा की इस सजधज में कोई दिलचस्पी नहीं ली। राधा को आश्चर्य हुआ। वह मोहन की ओर एकटक देखती रही मगर उसने अपना सिर नीचे झुका लिया। कमरे में चुप्पी का सा वातावरण उत्पन्न हो गया। कुछ क्षण बाद मोहन ने कहा––'कल मुझे सुनीता के लिए सफेद साड़ी लानी है।'

'रंगीन क्यों नही?'–रत्न ने पूछा।

'उसको बनाव–सिंगार बिल्कुल पसंद नही। सफेद साड़ी उसकी अपनी चॉयस है।'

'मगर मेरी राधा अपने को सजाने–संवारने में खूब दिलचस्पी लेती है। अपने लिए नहीं, मेरे लिए। पत्नी का बनाव–सिंगार पति के प्रति उसके अनन्य प्रेम का द्योतक माना जाता है। इस सिलसिले में यदि पत्नी अपनी चॉयस से काम ले तो मानिए, वह किसी दूसरे को रिझाती है।'–रत्न ने कहा।

यह सुनकर राधा के तन–बदन में आग सी लग गयी। मोहन

निरुत्तर रहा।

'देखों न, सामने बैठी है राधा। किस तरह सजी–संवरी है! यह तो इस समय की बात नहीं। आप इसको हर समय इसी तरह पाओगे। यह मेरी चॉयस है। मैंने इसको कह दिया है कि मैं थोड़ा बदसूरत ही सही, मगर तुमको अपनी सुन्दरता की कद्र करनी चाहिए'––रत्न ने कहा।

मोहन विचारो में डूब गया!

राधा नीरस पड़ने लगी!

'मोहन! कैसे थे वे दिन जब हम एक–साथ कॉलिज में पढ़ते थे। वह अहरवल का पिकनिक! पहलगांव में दो–एक दिन घूमना!'–प्रसंग बदलने के ख्याल से राधा ने कहा।

'हां, हां याद है'–मोहन ने इस तरह कहा जैसे राधा से कोई जुर्म हो गया हो।

'हां, मुझे भी याद है–गुलमर्ग में...'–रत्न ने बीच में ही कहा

'उस पिकनिक में सुनीता भी आयी थीं! हम दोनों ने वहां कुछ स्कींइग की थी।'–मोहन ने कहा।

राधा बिल्कुल मौन!

'अरे अब याद आया। उस समय राधा भी स्कीइंग करना चाहती थी, किंतु आपने अकेले उस सुनसान में इसको छोड़ दिया और सुनीता का हाथ पकड़ लिया।'––रत्न ने याद करते हुए कहा।

'मैं कब सुनीता को जानता था? राधा ने ही उसके साथ परिचय कराया था। मुझे देखकर न जाने वह क्यों इंप्रेस हो गयी!'–मोहन ने कहा।

यह सुनकर सच ही राधा का दिल धक्–धक् करने लगा। उसका विगत आंखों में चित्रपट की तरह घूमने लगा। यौवन की पहली सीढ़ी पर चढ़कर ही किस प्रकार मोहन उसकी ताक में लगा रहा। बाद में दोनों इतने निकट आ गये कि दोस्ती प्रणय में परिणत हो गयी। दोनों ने एक–दूसरे के साथ शादी करने की कसम ले ली। एक–दूसरे की चाह इतनी बढ़ने लगी कि मोहन को इस बात का ध्यान ही न आया

कि राधा का पिता चपरासी है। मुश्किल से पेट पालता है। किंतु राधा जानती थी कि प्रणय–लीला में इन बातों का कोई महत्व नहीं। मगर गुलमर्ग में ज्यों ही मोहन सुनीता से मिला तो....कुछ भी नहीं हुआ। लेकिन उस अनुभूति को वह दिल में ही संजोये हुए थी। मोहन कुछ क्षण के लिए सोचता रहा। फिर बोला––'मैंने कभी किसी के साथ बदी नहीं की है। नेकी तो सबों के साथ करता हूं। और दिल की धड़कन तो उस वक्त बढ़ती है जब सुनीता को गुस्सा आता है।'

'मगर राधा को कभी गुस्सा नहीं आता। उसकी सहनशीलता पर मुझे गर्व है'–रत्न ने राधा की ओर देखकर कहा।

राधा की आंखे अब भी फर्श पर टिकी हुई थी, उसको वे दिन याद आये जब मोहन राधा से दूर भागकर सुनीता के निकट आने लगा था। धनी पिता की बेटी होने के कारण शादी होने में भी देरी नहीं हुई थी।

'यदि आपने शादी की तो मुझ पर पहाड़ टूट पड़ेगा और मैं उन मधुर भावनाओं को भूलने की चेष्टा कभी नहीं कर पाऊंगी'–राधा ने कहा था।

'ठीक है, मगर तुमको भी विवाह करना पड़ेगा ।'–मोहन ने कहा था।

'मुझसे कौन विवाह करेगा?'–राधा का प्रश्न!

'एक को मैंने तैयार कर रखा है।'–मोहन ने कहा।

'कौन?'–राधा ने पूछा।

'रत्न'–मोहन ने इस तरह कहा जैसे कोई रहस्य खोल दिया हो।

'किसकी मर्जी से?'

'मेरी!'–मोहन का स्वर आत्मीयता से लबरेज था।

इस एक वाक्य को सुनकर उस समय राधा कुछ न कह पायी थी। उसने मोहन के हर आदेश का पालन किया था। वास्तव में वह शादी को एक शारीरिक बंधन मानती थी। किंतु आज उसकी आंखे खुल गयीं। उसने जाना कि मोहन उसके साथ कुछ इस तरह का व्यवहार

कर रहा है कि जैसे उसको जानता ही नहीं। क्या वह उन मधुर भावनाओं को भूलने की चेष्टा करता है? उसके लिए वह तड़पता था, उसके सपने देखता था और आज यही अपने विगत् पर पर्दा डालता है। यह तो कितना बदल गया है..... और सुनीता–चपटी नाक वाली छोकरी! छोटी और मोटी। आज यह बात–बात पर उसी के नाम की रट लगा रहा है! इसपर भी उसने अपने को संयम में रखा। उसने सोचा कि अब उसको बोलना चाहिए–'मोहन, क्या आपको याद है कि हम कैसे मिले थे?'

राधा को अब भी विश्वास आ रहा था कि मोहन विगत् को भूलना चाहते हैं।

मोहन उसको देखता ही रह गया। कुछ बोल नहीं पाया।

'नहीं, नहीं, मैं नहीं मानती। मैं आपको याद दिलाए देती हूं।'–राधा बोली।

'याद दिलाने की कोई आवश्यकता नहीं। दरअसल सुनीता कहती है कि सहारे के रूप में उसने जो भी पाया, वही सत्य हैं।'–मोहन ने बात को काटकर कहा।

'छिः छिः, आपकी पत्नी के भी कैसे विचार हैं। मेरी राधा सत्य उसी को मानती है जो सत्य की कसौटी पर सही उतरे'–रत्न बीच में बोला।

मोहन बिल्कुल मौन! उसने आंखे इस तरह झुका लीं कि जैसे कुछ सुना ही नहीं।

इस बार राधा से न रहा गया। उसको बहुत गुस्सा आया मोहन पर। उनके साथ मन में संजोए सपने एक के बाद एक पिघलने लगे।

रत्न राधा की ओर देखता रहा, किन्तु राधा अपनी सहनशीलता खो बैठी। उसकी समझ में कुछ नहीं आया कि उनकी दृष्टि अपनी ओर किस प्रकार आकृष्ट करें। ठीक उसी वक्त नौकर ने अन्दर आकर सूचना दी कि खाना तैयार है। राधा को कुछ तसल्ली–सी हो गयी।

जब तक वे खाने के मेज पर आ गए, तब तक दोनों अपनी पत्नियों की प्रशंसा के पुल बांधने में लगे रहे। इस बीच राधा को लगा कि वह निश्चय ही कल्पनालोक में विचरण कर रही है और वह यथार्थ

की धरती से ऊपर उठकर न जाने स्वप्नलोक की किस दिशा में बसना चाहती है।

सुनीता को मिर्ची बहुत पसंद है।

राधा के विचारों का ताना–बाना टूट गया।

'राधा को मिर्च से नफरत है। वह वही चीज खाती है जिसमें मिठास हो। सुन्दरता में मिठास, काम करने में मिठास, बोलने में मिठास।'

'यही एक कमी रह गयी है सुनीता में! दफ्तर से अगर लेट आता हूं तो हंगामा मचाती है।'

'मेरी राधा तो ऐसी नहीं है।'

'सुनीता मेरी प्रतीक्षा दस बजे रात के बाद करती है। यानी....यानी देश की जनसंख्या!'

'नहीं, मैंने इसको कभी वासना की मूर्ति नहीं समझा और न इसने मुझे आत्मतुष्टी का देव। आजकल ऐसी बातें दोनों की मर्जी पर निर्भर करती है।'

'वंडरफुल! क्या कहने।'

'दरअसल यह एक आदर्श है।'

'किसका?'

'राधा का। और इसका पालन करना मेरी मजबूरी नहीं कर्त्तव्य–सा बन गया है।'

राधा फर्श पर बैठी यह सब सुन रही थी। उसकी आंखों से आंसू उमड़े पड़ रहे थे। फिर भी, जब तक भोजन समाप्त न हुआ, वह संयम में रही।

'शुक्रिया राधा! अब मैं चलता हूं'––यह कहकर मोहन एकदम उठ गये।

राधा कुछ न बोल पायी। उसने सिर झुका लिया।

पत्नी की दशा को देखकर रत्न सब कुछ ताड़ गया। उसने झट मोहन की ओर देखकर कहा–'शुक्रिया, शुक्रिया! कभी–कभी यहाँ जरूर आते रहना। राधा को न सही, मुझे तो आपकी याद आती है। कॉलिज के दोस्त ठहरे न! तिस पर भी यह भोली राधा तो मुझे आपकी

ही देन है।'

मोहन ड्राईंग रूम से बाहर निकल गया पर उसने 'गुडनाइट' भी नहीं कहा।

ज्योंही मोहन चला गया तो राधा ने रत्न की ओर देखा। उसकी आंखों से आंसू छलक रहे थे।

रत्न की आंखें फर्श पर टिकी हुई थी। उसने राधा को यह अहसास दिया कि जैसे उसको कुछ समझ में ही न आया हो किंतु राधा ने उसकी ओर बार–बार देखा। वह अपने को थकी–हारी सी महसूस कर रही थी। अपना अश्रुवेग वह रोक ही नही पा रही थी क्योंकि हृदय में जो सपनों का महल बना चुकी थी, उसकी बुनियाद आखिर कच्ची निकली थी।

'मुझसे अब सहा नही जा सकता।'

'क्यों? क्या बात है? इतनी उदास?'

'मुझे क्षमा करो। मेरे दिल में अब तुम्हारा अस्तित्व सपना नही, बल्कि सत्य की कसौटी पर पूरा उतरा है।'

'मगर तुम मोहन की राधा हो न?'

'अब नहीं हूं।'

'क्यों?'

'क्योंकि अब मोहन के दिल में रुक्मिणी पूरी तरह बस गयी है। राधा कब तक इन्तजार करेगी?'

रत्न ने राधा की ओर आश्चर्य मिश्रित निगाहों से देखा। उसने कुछ नहीं कहा। राधा भी एकटक उसकी ओर देखती रही। दोनों की आंखें टकरा गयी, रत्न ने सोचा कि यह क्षण मधुर अनुभूति अनुभव करने के लिए हैं। इसी से उसका मानसिक जख्म भर सकता है। उसके बारे में आदि से अंत तक पूछताछ करने से क्या लाभ!

(कादम्बिनी–सितम्बर 1988)

❑

नौ

"टूटने से पहले"

'क या कहा?'–उषा ने राजनाथ की ओर ऐसे देखा जैसे कोई कसाई बकरी की ओर काटने से पहले देखता है। इसके बाद वह उठी ओर उसके गाल पर एक तमाचा रसीद कर दिया। राजनाथ का चेहरा लाल हो गया। वह झट अपनी कुर्सी पर से उठ गया किंतु उषा ने अपने शरीर की समस्त ताकत लगाकर एक ही झटके से उसको दीवार के साथ पटक दिया। इससे कमरे में खलबली सी मच गई। यह देखने के लिए कि ऐसी क्या बात है, वहाँ सबसे पहले काशीनाथ ने प्रवेश किया, इसके बाद मिस नलिनी ने जिसके पीछे–पीछे अन्य कर्मचारी भी थे।

यह एक दफ्तर का कमरा था जिसमें तीन जने काम करते थे। दो मर्द, एक स्त्री। काशीनाथ हेड क्लर्क और राजनाथ। इनके सामने बैठती थीं मिस उषा।

काशीनाथ ने यह देखते ही राजनाथ का केस करवाया। उसको उसी दिन मोअत्तल किया गया। इसके स्थान पर मिस नलिनी ने अपना पद भार संभाला।

यह सत्य है कि उषा बला की सुंदर थीं और उसको अपने इस सौंदर्य पर गर्व था। किंतु फूल देखकर भौंरा उस पर जरूर बैठने की कोशिश करता है और जब फूल हवा का झोंका लगने से हिलता है तो भौंरा उस पर मंडराता है। किंतु उषा इसके विपरीत सोचती थी। उसका कहना था कि मर्द खुदगर्ज है, लालची हैं, दुष्ट हैं। किसी अलबेली

और नाजनीन स्त्री से अपना मतलब निकलवा कर अंत में वह उसको अपनी जूती जितनी कद्र भी नहीं करता। यही सोचकर उसको मर्दो से चिढ़ थीं और यही जानकर कोई उसके साथ ऐसी–वैसी बात या फिकरा–कशी करने से दूर रहता।

यह भी सत्य है कि उषा तेज थी, चंचल थी और हाजिर–जवाब थी, मगर उसमें कोई खोट नहीं था। उसको मर्द जात से चिढ़ थी, यह हर कोई जानता था। किंतु इसका दूसरा रुख भी देखिए। जब कोई उसके पास बैठता था तो वह उसकी ओर तृष्त आंखों से देखता ही रहता था। उस समय वह यह जानना चाहती थीं कि आखिर ऐसा क्यों है। वह प्रायः अन्य कर्मचारिनों से पूछती कि किसी मर्द को देखकर हम क्यों नहीं भरमा जाती? जब इनमें से कोई एक कहती कि मर्दों को पहचानने की जरूरत है। सारे मर्द तो बुरे नहीं होते, तो वह एक दम झुझंला उठती और मर्दो के विरूद्ध उसका भाषण शुरू हो जाता था––'ये सब दुष्ट हैं, लालची हैं, पाजी हैं, नीच हैं। ये कब तक हमें अपना गुलाम बना सकते हैं। आखिर हम भी तो इन्सान हैं। याद रख, अब हम आजाद हैं। हम जो चाहेंगे, कर सकते हैं। हम नेता हैं, कर्मचारी हैं, पुलिस में काम करती हैं। हम कार चला सकती हैं, हवाई–जहाज चला सकती हैं तथा यान में बैठकर चांद–सितारों तक पहुंच सकती हैं। भला वह कौन–सा पेशा है जो हम अपना नहीं सकती। हम क्या मर्दो से कुछ कम हैं। ये क्यों हमें वासना की मूर्ति समझते हैं? हमारा बलात्कार क्यों करते हैं? हमें क्यों छेड़ते हैं, आंख मारते हैं या झूठ–मूठ खांस कर चिढ़ाते हैं। मेरी प्यारी बहनो! मर्द–जात पर कभी विश्वास न करना। ये तब तक तुम्हारे गुलाम हैं जब तक तुम दरिया के किनारे पर हो। नाव में जब बैठ गयी तो तुम यह नहीं कह सकती कि नाव दूसरे किनारे लगेगी या बीच भंवर में ही डूब जाएगी। मर्दो से हमेशा दूर रहना। इनकी जात नीच है।'

एक विवाहिता कर्मचारिन से यह सब सहा न गया। उसकी आंखों से आंसू बह निकले। उसने मर्दो की वकालत करते हुए कहा–'क्या

बकती हो? मर्द के बिना औरत की दुनिया वीरान और उजाड़ है।'

'क्यों?'—उषा का प्रश्न।

कर्मचारिन को कुछ समझ में नहीं आया क्या कहूं इसको। कहने के लिए उसके पास बहुत कुछ था, मगर कह नहीं पाती थी। उसने सोचा कि यह समय नहीं है इस तरह की बातें करने का और वह भी इस कुंवारी उषा के साथ।

'कहती क्यों नहीं?'—उषा की उत्सुकता।

कर्मचारिन ने पहले उषा की ओर देखा। फिर धीमें स्वर में कहा—'मर्द औरत का देवता होता है।'

'देवता?'—उषा का व्यंग्य।

'हां देवता।'—कर्मचारिन ने फिर कहा।

'तुम्हारा तो मर्द है। लेकिन मैं जानना चाहती हूं कि शादी करने के बाद तुमको क्या मिला?'—उषा ने पूछा।

'सुख—शांति, आराम'—कर्मचारिन ने कहा।

'सच्च कहती हो?'—उषा का प्रश्न।

'सच्ची।'—कर्मचारिन का उत्तर।

'नहीं, यह झूठ है। शादी करके तुमने कुछ नहीं पाया। हां, तीन बच्चों की मां तो जरूर बनी हो। इसके सिवाय बता, क्या मिला है तुमको?'—उषा ने एकदम कहा।

कर्मचारिन ने उसकी ओर ध्यान से देखा। सोचा, अब तक वह जो बात शर्म—हया के पर्दे में रखना चाहती थी उषा के सामने, उसी का पर्दाफाश उसने स्वयं किया। कैसी लड़की है यह! वह लजा गई। पसीने से तरबतर हो गई। सिर झुकाए वह उठी ओर दरवाजे के पास पहुंचकर धीमें स्वर में कहने लगी—बकती है।

उषा ने सुना और कुछ न कह पायी क्योंकि उसने कांटे से जिस मछली को पकड़ा था वह हाथ में आकर फिसल गई और पहले की तरह पानी में तैरने लगी। उसी की तरह कुंवारी कर्मचारिनों को भी उसकी एक बात पल्ले नहीं पड़ती थीं। वे दफ्तर में खुले आम एक—दूसरे

को अपनी प्रेम—कहानियां सुनाती थीं। मुझे कौन तृप्त नजरों से देखता है। कल उस कर्मचारी ने मुझ पर क्या फिकरा कसा। मुझे देखकर कौन—सा कर्मचारी आहें भरता है। किस की नाक अच्छी है। किस की आंखे नाचती हैं—यह सब सुनकर उषा मन—ही—मन झुंझला उठती और वह वहां से उठकर सीधे अपने कमरे में जाकर फाइलों की उलट—पलट करती। इसके साथ ही वह प्रायः उन कर्मचारिनों को मन—ही—मन कोसती रहती जो मर्द के बिना अपना अस्तित्व स्वीकार करने को तैयार नहीं होती। वह उसका कहा क्यों नहीं मानती। इसके साथ ही वह अपने आपसे प्रश्न करती हुई पूछती कि क्या सचमुच मर्द के बिना एक औरत का कभी गुजर—बसर नहीं हो सकता। क्यों नहीं, वह आंख उठाकर मिस नलिनी की ओर देखती जो प्रायः उसके सामने बैठी फाइलों को छांट रही होती। चालीसी लांघकर भी नलिनी अभी मिस है। कैसी सुंदर और स्वस्थ लगती है। उसने क्यों शादी करने की जरूरत महसूस नहीं की। यदि उसने शादी की होती तो आजकल यह कब्र से निकाली गई लाश जैसी दिखती। शादी क्यों करेगी, यह क्या किसी के अधीन है। दरअसल सत्य यही है कि हम दोनों के विचार समान है।

काशीनाथ की पदोन्नति हो गई। राजनाथ के रिक्त स्थान की पूर्ति की आवश्यकता को देखकर बॉस काशीनाथ, मिस नलिनी को हेड क्लर्क और उषा को डिस्पेच से साधारण क्लर्क का पदभार सौंपा गया। काशीनाथ एक अलग कमरे में काम करने लगे। साथ ही इन्होंने मिस नलिनी को भी अपने ही कमरे में काम करने को कहा क्योंकि वह इसकी विश्वस्त थीं। उषा को इस कमरे में अकेला छोड़ दिया गया। काशीनाथ जानते थे कि उषा को एकांत में काम करना बहुत अच्छा लगता है क्योंकि अन्य कर्मचारिनों के साथ बैठकर वह अपनी राम—कहानी शुरू कर देती है। उषा को कमरे में अकेला छोड़ना काशीनाथ का एक नया प्रयोग था। यह कहां तक सफल रह सकता था, यही तो उसको देखना था।

ऐसा ही हुआ। उषा को एकांत में काम करना स्वीकार था। इसके साथ ही उसको मिस नलिनी के साथ काम करना पसंद था।

फिर भी बॉस का आदेश उसको मानना ही पड़ा।

दिन बीत गए– नदी में बहते हुए पानी की तरह ऐसा ही एक दिन था। एक जरूरी केस के सिलसिले में एक फाइल के हस्ताक्षर के लिए निश्चित समय से पहले उषा को बॉस के पास जाना पड़ा। केस तो कुछ नहीं था। बस मिनिस्ट्री ने राजनाथ को नौकरी में फिर से बहाल किया था। सजा के तौर पर उसको सामान्य क्लर्क के बजाए दफ्तर का सारा डिस्पैच दे दिया गया था। उषा को इस बात का अफसोस नहीं था कि राजनाथ नौकरी में क्यों बहाल हो गया है बल्कि इस बात का दुःख तो जरूर था कि उसकी नियुक्ति इसी दफ्तर में क्यों हो गई है। इसी के विरोध में उसने आपत्ति–पत्र लिखा था और इस पर बॉस का हस्ताक्षर होने के बाद मिनिस्ट्री को भेजना चाहती थी। ज्यों ही उसने बॉस के कमरे के पास पहुंचकर पर्दा हटाया तो वह एकदम चौंक गई। जिसकी वह कल्पना भी नहीं कर सकती थीं, वही उसने आज अपनी आंखों से देखा। उसने फिर पर्दा फेंका। वह जान ही न पायी कि अपने कमरे तक कैसे वापस जाए। कुछ क्षण के लिए उसने महसूस किया कि उसकी टांगों को पक्षाघात हो गया है। उसका दिल जोर–जोर से धड़कने लगा। सारा शरीर पसीने से तरबतर हो गया। उसने एक बार फिर अभी–अभी अंदर देखे दृष्य की कल्पना की– हां, काशीनाथ ने मिस नलिनी को अपनी बाहों में भर लिया था।

उषा मानो अपनी लड़खड़ाती टांगें उठाकर दफ्तर के एक कमरे में आई। इस समय उसने महसूस किया कि उसके शरीर का किसी पुरूष से संघर्ष हुआ है तथा उसके नारित्व का पशु की तरह नाश हुआ है। नारी के जिस धर्म की वह अवहेलना करती थीं, आज वह उसी धर्म पर विश्वास करने लगी। शिवशक्ति, पुरूष–प्रकृति, नर–नारी जैसे दर्शन की पहले वह खिल्ली उड़ाती थीं, आज वह मानने लगी कि दोनों एक–दूसरे के बिना अधूरे हैं, अपूर्ण हैं, किसी काम के नहीं हैं। एक नारी का अधूरा रहना पाप है, समाज के प्रतिकूल है। पूरा बनने की उसकी निश्चित उम्र ढलने के बाद वह कितनी ही खूबसूरत क्यों न हो, बदसूरत

ही लगती है और पूरा होने के बाद वह कितनी ही बदसूरत क्यों न हो जाए, मगर वह सबों को सुंदर दिखती है, प्यारी लगती है। उषा को इस तरह पल–भर में बदली–बदली सी देखकर उसकी समझ में भी नहीं आया कि ऐसा क्यों हो गया। उसने सोचा कि एक ऊंचा पेड़ तो आखिर टूट ही गया। आखिर कब तक पेड़ का अस्तित्व बना रहेगा। इस पर कुल्हाड़ियों का वार होता ही रहता है। यही उसका भाग्य है। यही सोचते उषा ने एक लंबी आह भरी। सामने बैठी अन्य कर्मचारिन जो एक उपन्यास पढ़ रही थी, उसकी ओर देखकर कहने लगी–'क्या बात है?'

उषा ने कुछ नही कहा।

अब की बार कर्मचारिन अपनी कुर्सी पर से उठकर उषा के पास आई। उसने उषा के रूखे बालों पर हाथ फेरा। पानी का एक गिलास लाकर कहने लगी–'क्या बात है?'

'कुछ नहीं।'–उषा का उत्तर था।

'तो फिर इतनी घबराई हुई क्यों हो?'–कर्मचारिन ने पूछा।

'आपको दिखता होगा'–उषा ने कहा।

'क्या बकती हो? जरा आईने में चेहरे की यह मुर्दनी हालत देखो।'–कर्मचारिन ने कहा।

उषा थर–थर कांप गई। उसने कुछ नहीं कहा। सिर्फ इस कर्मचारिन की ओर फटी आंखों से देखती रही। वह कुछ कहना चाहती थी मगर उसको कहना ही नहीं आता था।

'क्या किसी ने फिकरा कसा है?'–कर्मचारिन यह बात हिम्मत करके बोली क्योंकि वह जानती थी कि उषा के साथ इस तरह की बात करना आग पर तेल छिड़कना होता था।

कर्मचारिन की यह बात सुनकर उषा ने आंखे झुका लीं। कर्मचारिन को आश्चर्य हुआ यह देखकर। बोली–'तो क्या यही इस उपन्यास का चर्मोत्कर्ष हैं?'

'मतलब?'–उषा ने पूछा।

'वह घड़ी जब कोई मर्द किसी औरत के साथ....'–कर्मचारिन

ने कहा।

बात को काट कर उषा ने एकदम कर्मचारिन के मुंह पर हाथ रखते हुए कहा–'ओफ, मुझे आराम करने दो। मेरा सिर चकरा रहा है।'

'सच्ची बात मानने से पहले लड़कियां ऐसे ही नखरा करती रहती हैं।'–कर्मचारिन ने कहा।

उषा वहां से उठकर अपने कमरे में चली गई। न जाने उसको यह एकदम क्या हो गया। उसको चारों ओर अंधेरा दिखाई दे रहा था। वह उठी और अपने कमरे से बाहर आई। उसको लगा दायें–बायें सैकड़ों बैंड–बाजे बज रहे हैं और इसी शोरगुल में उसकी विदाई की जा रही है।

उषा बार–बार यह सोचती कि आखिर वह कौन–सी शक्ति है जिसने उसको अपने पथ से हटाकर बियाबानों में भटका दिया है। अब तक वह अपना हर कदम अपने निर्दिष्ट पथ पर उठाकर आगे की ओर बढ़ी जा रही थी और पथ में ही यह उसको क्या हो गया। तन से वह जरूर स्वस्थ है किंतु मन से क्यों डावांडोल है। आज वह मन से क्यों कोई जरूरत महसूस कर रही है। इस बीच न जाने क्या हुआ, वह अपने कमरे के बाहर आई। ज्यों ही वह दरवाजे से निकली तो उसकी नजर एक दम सामने वाले कमरे पर पड़ी। फांक से झांका तो वहां राजनाथ डिस्पैच के काम में व्यस्त अकेले बैठा था। बॉस ने इसको न जाने क्यों एक ऐसे कमरे में काम करने को कहा था जहां कोई न हो। उषा ने अपने–आपसे कहा कि यह क्या तुक है। मैं भी अकेली और यह बेचारा भी अकेला। क्या अकेले–अकेले काम करना भी कोई काम है और वह भी दफ्तर में। कैसा बॉस है यह हमारा। आप तो नलिनी के साथ दिन भर गुलछर्रे उड़ाता है, जब चाहे इसको अपनी बांहों में भर लेता है। दोनों के प्राण उन्मुक्त हो जाते हैं। बॉस तो है चार बच्चों का बाप लेकिन यहां भी इसने अपना चारा कर रखा है। हमें तो इसने आंखों पर पट्टी लगाकर कोल्हू का बैल बना दिया है। लेकिन मुझे इस पर ईर्ष्या नहीं आनी चाहिए। मैं स्वयं दोषी हूं क्योंकि मैंने सोचा था कि मेरा

अन्तर्मन हर समय तृप्त रहेगा। लेकिन मेरा यह सोच छलावा था। यही मेरा राजनाथ के साथ पार्थक्य था किंतु आज मैं समझ गई हूं कि वह कितना सहज, कितना निःसंकोच है। इस समय उषा से न रहा गया। वह झट राजनाथ के कमरे में घुस आई और उसके सामने वाली सीट पर बैठ गई। ऐसा लग रहा था कि दोनों साथ–साथ बैठे हैं। उषा को देखकर राजनाथ आश्चर्य में पड़ गया। आखिर यह क्या माजरा है। यह क्यों मेरे साथ इस तरह चिपट कर बैठती है। क्या यह मुझे एक बार फिर मुअत्तल करवाना चाहती है। राजनाथ ने उषा की ओर ध्यान से देखकर कहा–'मेरे सामने से हट जा, वरना मैं शिकायत लेकर बॉस के पास जाउंगा।'

'क्यों?'–उषा ने पूछा।

'यह भी पूछने की बात है। जरा अपने आपसे पूछ कि उस दिन तुमने मेरी क्या हालत बना दी जिसकी वजह से मुझे नौकरी से निकाला गया।'–राजनाथ का गुस्सा।

'पता है। सब कुछ।'–उषा ने सिर झुकाकर कहा।

'तो क्या फिर वही दोहराना चाहती हो?'–राजनाथ ने कहा।

उषा पछतावे की स्थिति में उसके पास खड़ी थी।

'भगवान के वास्ते इस कमरे से चली जा। यदि तुमने एक बार फिर पहले जैसा अभिनय किया तो मैं कहीं का नहीं रह जाऊंगा।'–राजनाथ ने आजिजी से कहा।

'इस बार ऐसा नहीं होगा।'–उषा ने आंखें झुका कर कहा।

राजनाथ ने उसकी ओर ध्यान से देखा। तबीयत हुई कि उसके गाल पर दो–चार थप्पड़ जड़ दे। कैसी औरत है यह। एक बार तो मुअत्तल करवाया। अब दूसरी बार भी इसका यही इरादा है। आखिर यह मुझे क्या समझती है। नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। यदि मैं इसको ऐसी ही ढ़ील दूंगा तो किसी भी समय मेरी नौकरी चली जाएगी। यही सोचते हुए वह कमरे से बाहर निकलने ही वाला था कि उषा ने रोक कर कहा–'कहां ?'

'बॉस के पास शिकायत करने।'–राजनाथ ने अपने वाक्य पर खास बल देकर कहा।

'नहीं।'–उषा ने जैसे चिल्ला कर कहा।

'क्यों नहीं?'–राजनाथ ने पूछा।

'क्योंकि अब मैं टूट गई हूं।'–यह कहकर उषा की आंखों से आंसू बह निकले।

राजनाथ ने उषा की ओर एक बार फिर ध्यान से देखा। यह क्या कह रही है। यह अभिनय करना खूब जानती है। अब तो मैं इसके झांसे में नहीं आने वाला। मुझे अब इससे ज्यादा नौकरी प्यारी है। देखो, आंखों से कैसे आंसू बहा रही है जैसे अपना कोई बिछड़ गया है। राजनाथ ने पहले उसकी ओर एक बार फिर ध्यान से देखा। कहा–'टूटने से पहले कहां थीं?'

उषा को लगा कि उसका यह प्रश्न उचित है, सही है। टूटने से पहले वह जिस संसार में विचरण कर रही थी, उसमें मोह था, भ्रम था। पुरुष–प्रकृति का माया–जाल नहीं था। शिव–शक्ति मिलन का वरदान नहीं था। उसकी आंखे एक बार फिर डबडबा आईं। होंठ कांपने लगे। उसने एक बार फिर नजरें ऐसे झुका लीं कि जैसे अपनी भूल स्वीकार कर ली।

'अच्छा, आखिर मुझे भी वह दिन याद रहेगा जब तुमने मेरी इस दफ्तर में बे–इज्जती की और मुअत्तल करवाकर तीन साल तक बेकारी का चक्कर काटने पर विवश किया।'–राजनाथ का एक बार फिर व्यंग्य।

उषा एक बार फिर पछतावे की स्थिति में राजनाथ की ओर ऐसे देखने लगी कि जैसे कह रही है कि जो टूटने से पहले हुआ, वह मेरे भविष्य के दिए बुझाता गया। वह तो मुझे नहीं करना चाहिए था। अरे क्रूर निर्दयी, जानते नहीं, अब मैं सारी तेरी हो गई हूं....। कितनों को मैंने नीचा दिखाया....। एक–एक करके मेरा चंचल स्वभाव देखकर कितनों ने छेड़ने की कोशिश की....पर तुम्हारी कसम, अब मुझे तुम्हारे

सिवाय कोई अच्छा नहीं....लगता... अब मुझे किसी का भी मोह नहीं आता है.....तुमको देखकर मुझे लगता है कि अब तुम्हारे जैसा मुझे कोई नहीं मिल सकेगा.... और इसी के साथ वह फफक–फफक कर रोने लगीं। फिर वह उठी और पल्लू से आंखें पोंछने लगी।

अब की बार उषा की इस तरह की हालत देखकर राजनाथ ने महसूस किया कि उषा सचमुच ही टूट गई है। मगर टूटने से पहले वह कहाँ थीं। फिर भी उसने अब बात को तूल देना उचित नहीं समझा। वह उठा और पहले की तरह उसके पास जाकर निहायत ही प्यार से कहने लगा–'यदि मैं तुम्हारे साथ शादी करने के लिए तैयार हो जाऊँ तो....

उषा के बदन में फुरेरी सी दौड़ गई। उसने सिर झुका लिया।

राजनाथ ने अपना प्रश्न फिर दोहराया।

उषा ने स्वीकारात्मक मुद्रा में सिर हिलाया।

राजनाथ ने हल्की सी चीख के साथ खुशी से मचल कर कहा–'मेरी कसम, सच कहती हो?'

उषा ने लजाते–सकुचाते मुंह फेर लिया। इस समय राजनाथ के अंदर की पशुता खुले रूप में सामने आने लगी। उसने दोनों बांहों से उषा को दे दिया एक कसा हुआ आलिंगन और गालों पर गर्म–गर्म चुम्बन...एक...दो...तीन...।

'बेशर्म... बेहया...' यह सुनते ही दोनों चौंक गए। पीछे की ओर देखा तो काशीनाथ खड़े थे। उसके पीछे–पीछे मिस नलिनी। उषा को अपने होंठ विकृत किए देख रही थीं।

'क्या तुम यहां नौकरी करने आए हो या प्रेम–क्रीड़ा। तुम लोगों ने ही इस दफ्तर का नाम बदनाम किया है। तुम्हारे लिए यहाँ कोई जगह नहीं'–काशीनाथ ने जोरदार आवाज में कहा।

राजनाथ थर–थर कांप गया। बड़ी मुश्किल से वह नौकरी में बहाल हुआ था किंतु उषा घबराई नहीं। उसने राजनाथ की ओर ऐसे देखा जैसे कह रही हो कि डर मत। ये किन सन्यासियों में से हैं। दरअसल इनकी क्रीड़ा को देखकर ही मुझे टूटने की प्रेरणा मिली।

(भाषा–अक्टूबर–1990)

❑

दस

दिल उछला देखने

हां, यह वही है दिल! शरीर के बायीं ओर का एक महत्वपूर्ण अंग। आकार में नाशपाती जैसा रंग है लाल! रक्त से भरा हुआ! देखने में लगता है फूल–सा कोमल किंतु उस समय आस–पास खड़े जो व्यक्ति इसको कैंची और छुर्रियों से काट रहे थे, उन्हें यह पत्थर से भी सख्त दिखायी दिया। यदि गहराई से देखा जाए तो ऐसा लगता है कि न दिल फूल–सा कोमल है, न पत्थर जैसा सख्त! यह तो दिल है, सिर्फ दिल। इसी दिल को जब उन्होंने उसके सीने से चीर कर निकाला तो पहली ही नजर में उनको लगा कि यह टूट गया है, चूर–चूर हो गया है, अजड़ और सुलग गया है। अकारण ही बैठ–सा गया है और न जाने चिंता की किस आंधी ने इसको पारा पारा कर दिया।

आखिर ऐसा क्यों है?–उस समय यह प्रश्न सबके मन–मस्तिष्क के स्याह पटल पर चाक की लकीर खींचकर उभर गया। इस पर तुर्रा यह कि दिल को देखकर भी ये इसको अच्छी तरह देख नहीं पा सके थे। अंत में वही हुआ जो आजकल दिल की तसल्ली के लिए दिल के साथ होता है। पूरी जांच करने के पश्चात हृदय–रोग चिकित्सकों ने इसका आपरेशन करना उचित समझा, क्योंकि सब यही चाहते थे कि दिल किसी तरह बच जाए। उस समय इसको कैंची और छुर्रियों की सहायता से ठीक कर सही अवस्था में लाने की कोशिश की गयी, किंतु...किंतु यह ठीक नहीं हो सका। इसके विपरीत यह तिलमिलाया। इसने विद्रोह किया। यह चार–चार हाथ उछलने लगा और झटका मारकर

उसके शरीर के अपने खाने से एकदम बाहर निकल गया। ज़राही के इतिहास में इस प्रकार की यह पहली घटना थी जब दिल ने विद्रोही बनकर अपनी तरफ से क्रांति का झंडा उठाया। दिल के इस तरह के बर्ताव को देखकर ऑपरेशन–थियेटर में भगदड़–सी मच गयी। फिर भी डॉक्टरों ने अपना दिल कड़ा किया, किंतु परिचारिकाएं डरकर वहां से भाग गयीं। किसी की समझ में नहीं आया कि यह क्या हो गया, क्यों हो गया और कैसे हो गया। सब इस धड़कते हुए मांस के बने नाशपाती आकार की ओर आश्चर्यान्वित आंखों से देखते रहे। इस बात का किसी को विश्वास नहीं था कि दिल हाथ लगाए बिना इस तरह विद्रोह करेगा। अभी तो डॉक्टरों को इस पर कई तरह के प्रयोग करने थे और यदि यह कुछ सेकंड तक उसके शरीर के अपने ही खाने में रहता तो जराही के इतिहास में उन्होंने एक नया अध्याय जोड़ दिया होता। किंतु हाय! वह इसको एक बार फिर छूने से कतरा गये क्योंकि मांस का यह लोथड़ा अपने खाने से बुरी तरह बाहर निकल गया था। बाहर निकल आने पर पहले इसकी धड़कन तेज हो गयी, तत्पश्चात यह धीरे–धीरे तड़पन की आग में झुलसता रहा और अंत में खून की धारा निकालकर ठंडा पड़ गया।

दिल को इस तरह का विकार क्यों हो गया?–यह जानने के लिए सब डॉक्टर उत्सुक हो गये। उनके मानस–पटल पर यह एक प्रश्न चिन्ह बनकर उभर आया, जिसका उत्तर खोज निकालने में ये कुछ समय तक व्यस्त रहे। मगर हाय! अब उनके हाथ से सब कुछ निकल गया था मानो चक्रावात में नाव बीच भंवर में डूब गयी थी। उनके हाथ से सब कुछ निकल गया था। सब कुछ! उनका एक दिलचस्प दिल का रोगी दिल का एक विचित्र दौरा पड़ने से मर गया था। अब उनके लिए उसके दिल को एक बार पुनः अपनी धड़कन में लोच लाना संभव नहीं था। यदि वह इसको बचा लेते तो उन्होंने नाम कमा लिया होता। इसके लिए उन्हें बहुत पछतावा हुआ। कहते हैं न, यदि किसी वैज्ञानिक की अपनी प्रयोगशाला जल जाए तो उसको इसकी कोई चिंता नहीं किंतु

यदि डॉक्टर के अपने किसी दिलचस्प रोगी की मृत्यु हो जाए तो उसके पास पछतावा करने के सिवाय कुछ नहीं रह जाता। खैर, दूसरे दिन डॉक्टर मृतक के घर गये। वहां सब रो रहे थे। उनकी आंखें भी उमड़ पड़ी। वह इसलिए नहीं कि एक अच्छे इन्सान की मृत्यु हो गयी थी, बल्कि इसलिए कि उनके हाथ से दिल का एक दिलचस्प रोगी निकल गया था। इतने में मृतक के सुपुत्र ने सुबकते हुए कहा कि मेरे पिता एक संवेदनशील आदमी होने के साथ–साथ चतुर–दिल भी थे। सद्भाव उनमें कूट–कूटकर भरा था। दिल के बादशाह होने के कारण उनके अंदर दिल–दरिया ठाठें मारता हुआ बह रहा था। वह सारी उम्र ठेकेदारी का काम करते रहे। इस बीच उन्होंने क्या नहीं किया, यह तो कहने की बात नहीं। सब कुछ तो आपके पास है उन्होंने शानदार बंगला बनाया, धन–संपत्ति जुटायी, सगे–संबंधियों की हर–संभव सहायता की, किंतु इतना होने पर भी उनका एक अरमान पूरा न हो सका, जिसको पूरा करने के लिए उनकी दिल से ठन गयी थी। इसको पूरा करने के लिए वह अपनी अंतिम सांस तक तड़पते रहे। उनकी इच्छा दिल के दिल में ही रह गयी।

यह सुनकर सब डॉक्टर एक–दूसरे की ओर देखते ही रह गये। उन्होंने सोचा कि मृतक के परिवार की दिल जमई करने के बजाय वे इनका ही क्यों सुन रहे हैं। शोक की इस घड़ी में वे दो शब्द भी नहीं कह पा रहे हैं।

मृतक का सुपुत्र कुछ क्षण रुककर एक बार फिर कहने लगा, वस्तुतः बात तो कुछ नहीं थी, किंतु चतुर–दिल आदमी के लिए ऐसी बातें बहुत महत्व रखती हैं। हां, मेरे पिता ने चाहा था कि उनके नाम पर इस शहर में एक बड़ा अस्पताल बन जाए। अपनी इस इच्छापूर्ति के लिए भरसक प्रयत्न किए और अंत में इसके बनने के लिए हद से ज्यादा तत्परता दिखायी। अस्पताल बनाने के लिए उन्होंने दान के रूप में जमीन दे दी। इसके लिए सीमेंट का स्पेशल कोटा सैंक्शन करवाया और पैसे? इनका तो कुछ मत पूछिए। इस पर पैसा पानी की तरह बहाया।

अस्पताल तो बन गया और इसके सभी कमरों की दीवारों पर उन्हीं के नाम से अंकित तख्ती चढ़ गयी। अस्पताल के भव्य भवन को देखकर उनके दिल का कमल खिल गया। उनका दिल बाग–बाग हो गया। खासतौर से जब वह इस अस्पताल के अंदर निरीक्षण करते तो उस समय ऐसा लगता था कि उनका दिल खिल गया है। किंतु भाग्य की विडंबना! जिस दिन अस्पताल को रोगियों की सेवा के लिए खोलना था, उस दिन समझ में नहीं आया कि अचानक यह क्या हो गया और कैसे हो गया। उनका दिल उसी दम खटका जब मंत्रालय उलट गया और नये मंत्रालय के एक नये सदस्य एवं मंत्री ने अपने मंत्रालय के प्रभाव से इस नये अस्पताल का उद्घाटन अपने नाम पर करवाया। हां, यह वही आदमी था जो किसी समय उनका हमप्याला था। यह देख उनका दिल उकता गया, कुम्हला गया। दिल में बनाया भव्य महल दिल में ही अचानक ढह गया। पछतावे की स्थिति में उनकी समझ में कुछ नहीं आया कि ऐसा क्यों हो गया! कल वह दिल पर हाथ रखकर छटपटाने लगे और मैंने जाना कि उनका दिल कराह रहा है। मैंने उनको उसी दम इस नये अस्पताल में भर्ती किया। हां, आपने वहां उनको बेहोश कर दिया होगा, मगर उनका दिल चैतन्य था। जैसे ही आपने उनका आपरेशन किया होगा, तब दिल कूदकर बाहर निकला होगा। शायद इसलिए कि मैं इस अस्पताल का निरीक्षण करूंगा। 'अरे इसके बनने के लिए मैंने सारी उम्र चाहा था और देखते ही देखते यह क्या हो गया!' इसके पश्चात् यह दम तोड़ गया होगा, शायद उस नाम की तख्ती को देखकर, जिस पर मंत्री महोदय या उसके हमप्याले का नाम अंकित था और जो उसी आपरेशन थियेटर की दीवार पर लगा हुआ था, जहां आपने उसका आपरेशन किया।

बिल्कुल इसी तरह हुआ था। यह सुनकर सब डॉक्टर खड़े होकर एक–दूसरे की ओर आश्चर्यान्वित दृष्टि से देखने लगे। शायद यह सुनकर उनको इस तरह पीड़ित दिल को ठीक करने की गुत्थी मिल गयी। फिर भी ये पछतावे की स्थिति में मानो एक–दूसरे से पूछने लगे

कि उस दिन उसके सीने से धड़कता दिल चीरकर हमारा दिल क्यों भरमाया! हमने उसके दिल का ऑपरेशन क्यों किया! 'दिल–बुझे' दिल के रोगी का ऑपरेशन करना कहां की बुद्धिमत्ता हैं! यह तो बस एक बहाना है। सिर्फ दिली–तसल्ली! वह दिल फिर कैसे धड़क सकेगा जो पहले ही बैठ गया हो, अंदर ही से सुलग गया हो या जिसके टुकड़े–टुकड़े हो गये हों।

(कादम्बिनी, मार्च–89)

❑

ग्यारह

'स्थितियों का रूप'

'हर इन्सान का अंत निश्चित है। अपने कर्मानुसार कुछ समय के लिए इस दुनिया में रहकर आखिर वह उसी का प्यारा हो जाता हैं यह तो एक प्राकृतिक नियम है, जिसको इस पृथ्वी का कोई बेटा बदल नहीं सकता।'

गत् तीन वर्षो से श्यामलाल हर एक के पास इन्हीं बातों को दोहराकर अपने–आपको तसल्ली देता। जीवन–मरण की व्याख्या करना तो वह दार्शनिकों की तरह जानता था और जब से सेदलक्ष्मी यह दुनिया छोड़कर चली गई, तब से हर पल वह सभी को इस भ्रम से निकालकर कहता कि उसने कुछ नहीं खो दिया है, अलबत्ता यह सब काल का करना था, इसको कौन टाल सकता है।

किंतु दिन बीतने पर उसने धीरे–धीरे महसूस किया कि उसकी कोई चीज खो गयी है। जीवन की एक अमूल्य चीज। अपना जीवन–साथी।

ऐसा खोयी हुई चीज क्या कभी किसी को वापस मिल सकती है? नहीं, इस बात का उसको अच्छा–खासा ज्ञान था। किन्तु सौभाग्य से आज कुछ क्षणों के लिए उसको अस्थायी रूप से अपनी यह अमानत फिर वापस मिल गई। समय हमेशा आगे चलता है, किंतु आज यह पीछे की ओर ठीक उसी प्रकार चलने लगा, जैसे कोई चीज किसी से चलते हुए हाथ से गिर पड़ी हो और बड़ी दूर निकल जाने के बाद उसे उस चीज की याद आयी हो तथा फिर उसे खोजने के लिए चल दिया हो।

उसने कुछ क्षणों के लिए अपनी उस चीज को फिर से पा लिया। उसको देखकर आंखों से आंसू बह निकले। बदन में थरथरी–सी पैदा होने लगी। उसकी समझ में भी यह नहीं आया कि ऐसा क्यों? वह तो जीवन–मरण को भगवान की देन मानता था। जीवन में जीना और मरना निश्चित है, एक शाश्वत सत्य है। इसीलिए वह न तो किसी के जीने पर खुश हो जाता, न ही किसी के मरने पर शोक करता। किंतु जो चीज वह खो गयी थी, उसको कुछ क्षणों के लिए पुनः पाकर यह उसको क्या हो गया–यही सोचकर न जाने वह यादों के किन बियाबानों में खो गया। तकिये के सहारे बैठकर उसकी आंखे छत की कड़ियों पर ऐसे टिक गयीं, जैसे वह छत को चीर कर नील–गगन का फैलाव देख रहा हो!

सेदलक्ष्मी का निधन हुए तीन वर्ष हो गये। पूरे तीन वर्ष! अब भी उसकी समझ में यह नहीं आ रहा था कि ये तीन वर्ष कैसे बीत गये। दिनों की यह कम्प्यूटर गिनती। समय की पुकार और भगवान की चाह इन सबको टालना मनुष्य–मात्र से परे है। ये सब टल नहीं सकते। टल यदि सकता है तो वह है उसका प्रेम। किन्तु बूढ़ा होने पर हर आदमी के विचार बदलते रहते हैं और प्रेम जो उससे प्रेम के साथ पेश आये, उसी पर वह बलिहारी हो जाने के लिए तैयार हो जाता और जो उसको नफरत करे, वह अपनी बची उम्र में उसका मुंह तक नहीं देखना चाहता। उसकी दशा उस दूध पीते बच्चे के समान हो जाती है, कि जब प्यार से पुचकारो तो खुश हो जाएगा, हंसेगा और जब थप्पड़ मारो तो इस तरह रोयेगा, मानो कोई जबरदस्त चोट लगी हो। जब मामूली–सी चीज खो जाये तो कहेगा, यही अमूल्य था और जब कोई चीज मिले तो उसको पूरी तरह सम्भाल कर रखेगा। इसी लिए तो कहते है न कि बच्चे बूढ़े एक समान हैं।

सेदलक्ष्मी का निधन हो गया। इस बात को अब तीन वर्ष हो गए। पूरे तीन वर्ष। जब उसके प्राण पखेरू उड़ गये, तो घर में सबों की आंखे आंसुओं से उमड़ आयीं। यार–दोस्त, सगे–संबंधी सब

श्यामलाल को तसल्ली देने आये। सबों ने जाना कि अब वह बात–बात के लिए दूसरों का मोहताज बनेगा। किन्तु श्यामलाल–उसको कोई शोक नहीं हुआ, उसने महसूस किया कि अब मैं आजाद हो गया हूं। मैंने कुछ नहीं खोया है। पति–पत्नी तो आखिरी दमतक एक–दूसरे का साथ नहीं देते। किसी–न–किसी का निधन तो पहले हो जाता है, चाहे वह पति हो या पत्नी। तिस पर भी यह उसका सौभाग्य था कि अस्सी लांघकर मर गई। इस प्रकार मरने वाले लोग तो भाग्यवान होते हैं। बाल–बच्चे! सब कमाऊ! सरकारी कर्मचारी! इससे बढ़कर और क्या चाहिए! इसके विपरीत श्यामलाल यही कहकर दूसरों को तसल्ली दे देता। यही कहकर उसने सेदलक्ष्मी को प्राण–त्याग करते समय पानी के दो चम्मच पिलाये थे और यही सोचते वह उसकी अर्थी के साथ शमशान तक गया था।

वह अपने–आपको आजाद समझता था। सुबह ग्यारह बजे घर से निकलना और शाम को वापस लौट आना! दिन को प्रताप–पार्क में पेंशन–बूढ़ों की टोली में सम्मिलित होना या किसी दिन दुकान पर बैठकर बहस करना। राजनीति से लेकर घर की समस्याओं पर उतर आना–यह तो श्यामलाल का नित्य नियम बन गया था। जब वह नौकरी में था, उस समय वह इतना व्यस्त नहीं रहता। उस समय वह चार बजे घर पहुंच कर पत्नी के साथ चुहल करता। किन्तु आजकल यदि कोई उसे मिलने आ जाता तो उसका घर में उपस्थित होने का सवाल ही पैदा नहीं होता! उसका इस प्रकार का रुझान देखकर सब नाराज हो गये। बाल–बच्चों को छोड़िए, सगे–संगंधियों को भी यह पसंद न था।

'इसको आजादी नहीं, उदासी कहते हैं।'––नाथा ने एक दिन उससे कहा।

'इसको न आजादी कहते हैं, न ही उदासी। ये तो रहे बुढ़ापे में दिन गुजर–बसर करने के कुछ पल।'–श्यामलाल का उत्तर।

'अपने घर में ये दिन अच्छी तरह कट नहीं सकते? अपनी घर–गृहस्थी में'–नाथा ने कहा।

'घर–गृहस्थी।'–यह सुनकर उसके सामने अपनी घर–गृहस्थी

की सुन्दर–सी तस्वीर आंखों के सामने आयी–नाथा और उसकी पत्नी कमला, मोहन और उसकी पत्नी श्यामा तथा उनके बच्चे आदि। कुछ समय तक अपनी इस गृहस्थी की सुन्दर–सी तस्वीर को आंखों के सामने लाकर वह चौंक–सा गया। उसने महसूस किया कि जो कुछ मैं करता हूं, वह तो सच ही ठीक नहीं। इससे समय बेकार नष्ट हो जाता है। नाथा का कहना सत्य है कि जो बाल–बच्चों वाला हो, उसको इस तरह आवारा फिरने की क्या आवश्यकता! सचमुच लोग इसको अदासी ही समझते होंगे। मगर उनका इस प्रकार सोचना सरासर गलत है। एकदम बेहूदा! मैं तो उदास नहीं हूं, बल्कि अब मैं आजाद हो गया हूं।

'आजाद'––उसके मुंह से यह शब्द अनायास निकला। आज तीन वर्षो की इस कालावधि के बाद उसको लगा कि मैं आजाद होने पर भी सभी का गुलाम हूं। बेबस और लाचार हूं। उसको पराये अपने लगने लगे और अपने पराये। खासकर पिछले तीन वर्षो से जो परिवर्तन उसने अपने घर में पाया, उसको देखकर वह सच ही काफी उदास था। उसने महसूस किया कि मैं अपना बहुमूल्य सरमाया खो चुका हूं–अपना जीवन–साथी!

किंतु इस प्रकार का खोयी हुई चीज क्या किसी को पुनः वापस मिल सकती है? कभी नहीं! यह बात वह अच्छी तरह जानता था। खासकर इस बुढ़ापे में जब विचारों के बारीक धागे अक्सर उलझ जाते हैं और जिन्दगी के सारे अरमान पूरे नहीं होते, उस समय यदि किसी को अपने जीवन–साथी से हाथ धोना पड़े, उसकी दशा उस तोते के समान होती है जिसकी पंख काटकर पिंजरे में बन्द रखा गया हो। श्यामलाल ने जब बाहर आना–जाना बन्द किया, तो उसको लगा कि यही हालत उस की भी है। उसको कमरे की दीवारें काटने को दौड़तीं और जब कभी वह बाजार जाता तो कोई तसल्ली नहीं होती। वह एक–आध घंटे बाद ही घर वापस आकर अपने कमरे में चला जाता। फिर रोज की तरह अकेलापन महसूस करता। और शाम को जब नाथा घर वापस आता तो सीधे अपने कमरे में चला जाता। मोहनजी का कुछ मत पूछिए! जब

से वह बड़ा अफसर बन गया, वह यह भूल गया कि मेरा कोई बाप भी जिंदा है। यद्यपि दिन को बहुएं घर में ही होतीं, किन्तु वह उनको कभी–कभार ही देखता। वह भी उस समय जब खाना आदि देने के लिए वे उसके कमरे में आतीं। वैसे तो उनको उसके साथ कौन–सा काम।

श्यामलाल हर दिन कमरे में अकेला बैठकर विचारों के इन्हीं बियाबानों में खो जाता कि मेरे साथ ही इतना परायापन क्यों है, मेरी सन्तान और मुझसे ही इतनी दूरी। मेरा मकान, मेरा घर और मैं ही इसमें एक अपरिचित की तरह रह रहा हूं। मैं ही इस जेलखाने में बन्द हूं।

जेलखाना––उसने एकदम महसूस किया कि मैं अपने कमरे में बैठा हूं। कमरे की चारदीवारी ओर छत की कड़ियां! इसी में बैठा हूं मैं। अकेला! सामने है गुड़गुड़ी! वह तो दिन में कई बार तम्बाकू पीता था, किंतु उसमें अब वह बात नहीं रही। वह तो हर समय अन्दर–ही–अन्दर घुटता–सा महसूस कर रहा था, चाहता था किसी के साथ खुलकर बातें करे और अपने दिल का गुबार निकाले। जब से सेदलक्ष्मी का निधन हो गया, उसको हर काम के लिए दूसरों से मिन्नतें करनी पड़तीं। जितना उससे हो सकता, वह अपना काम स्वयं करता––गुड़गुड़ी में पानी डालने से लेकर कपड़े धोने तक, किंतु एक मुश्किल तो जरूर हो जाती। वह यह कि उसके कमरे में स्थाथी रूप से कोई नहीं रहता, जिसके साथ वह बात करे। जब सेदलक्ष्मी इस कमरे में होती तो यहां सब आते तथा उसके साथ बातें करते। किन्तु आज वह सभी को पराया–सा लगता था। यह सब उसकी समझ में भी नहीं आता, ऐसा क्यों है? वह हर समय अपने–आपमें सोचा करता कि मैंने किसी से कुछ कहा तो नहीं। कोई मुझ पर नाराज तो नहीं! क्या बूढ़े की इज्जत पत्नी से ही बरकरार रहती है। क्या उसके बिना उसका कोई मूल्य नहीं! नहीं ऐसी बात नहीं। जीवन–मरण तो भगवान की देन है, इसको कोई रोक नहीं सकता।––यही सोचते–सोचते उसने सिर में दर्द महसूस किया। उसको चाय पीने की तबीयत आयी। वैसे तो, उस

समय दिन के चार बज चुके थे। उस समय यदि उसको चाय का एक कप नहीं मिलता तो, उसकी हालत मानो पागल हाथी की सी हो जाती। तो भी वह उस वक्त संयम में रहा। आशा थी कि कोई चाय का एक कप लेकर यहां जरूर आयेगा। वैसे तो हर दिन श्यामा चार बजे के करीब चाय का एक कप लेकर यहां आती। किंतु आज इतनी देर क्यों हो गई। पांच भी बज गये, किंतु आज तो मुझे पूछा ही नहीं। खैर तो है, इन सबकी। श्यामा आज कहां है?––वह यही सोचने लगा।

श्यामा––शोख, फैशनेबुल वाइफ! बड़ों की एक बात भी नहीं मानती वह! क्या भाग्य था पगले सोदजुब की इस बेटी का! मायके में इसको दो वक्त की रोटी नसीब नहीं थी और यहाँ नौकर–चाकर इसके कदमों में झुकते हैं। खैर, अपना–अपना भाग्य। मगर यहां तो वह खुद चाय का एक कप लेकर आती थी। आज वह क्यों नहीं आयी? खैर तो है उसकी। छः भी तो कब के बज गये। यह सीढ़ियों पर किसके चढ़ने की आहट हो रही है। जरा मैं भी तो देखूं, क्या बात है?

श्यामलाल ने हाथ में छड़ी ली और बाहर आया। सीढ़ियां चढ़कर उसने ऊपर से एक जोरदार कहकहा सुना। इसके साथ ही पुरूष–स्त्रियां एक–दूसरे से बात–चीत करते हुए। फिर प्यालियों के बजने की आवाज भी सुनायी दी। उसने अपने–आपसे सोचा कि यहां कोई पार्टी तो नहीं चल रही है। मुझे तो इसका पता ही नहीं। पता होता भी तो कैसे? जब से वह स्वर्गवासिनी यह दुनिया छोड़कर चली गयी, मुझे पता ही नहीं चलता कि ऊपर क्या कुछ हो रहा है! अब ये लोग मुझसे पूछते ही नहीं, जैसे मैं यहां का कोई नहीं–यही सोचकर वह छड़ी टेकते हुए ऊपर वाले कमरे के पास आ पहुंचा। उसने अन्दर से झांककर देखा–वहां एक बड़ी मेज के आस–पास छः मर्द और स्त्रियां चाय की चुस्कियां ले रहे थे और इनकी मेजबानी श्यामा और मोहनजी कर रहे थे। ज्योंही वह दरवाजे के पास आ पहुंचा, मोहनजी झट उठ खड़ा हुआ–

'ठहरिए'–यह कहकर वह कमरे के बाहर आया और बाप के कन्धे पर हाथ रखकर, फिर वापस जाने का संकेत करके उसके

पीछे–पीछे हो लिया। यह सब देखकर श्यामलाल को आश्चर्य हुआ। अरे, यह जो अतिथियों के साथ बातें कर रहा था, मजे में बैठा था और यह एकदम इसको क्या हो गया! कौन–सी आपत्ति होती यदि मैं भी इनके साथ बातें करता, उसी तरह जिस तरह उस स्वर्गवासिनी के होते हुए दूसरों के साथ करता था।––वह यही सोच रहा था कि मोहनजी नीचे उसके कमरे तक हो लिया और बाद में बिना पूछे ऊपर चला आया।

इतने में ऊपर से एक बार फिर कहकहा सुनाई दिया। कोई स्त्री श्यामा से पूछ रही थीं––'दरवाजे पर ये साहब कौन थे?'

'ये हमारे नौकर हैं। काम तो समय पर करते हैं, मगर दुर्भाग्य से नीम–पागल हैं।'––श्यामा का उत्तर।

'तो इन्हें यहां आना चाहिए था। ये नीम–पागल भी बड़ी मजेदार बातें करते हैं।'––कोई स्त्री बोली।

श्यामलाल ने इन सभी बातों को ध्यान से सुना। फिर झट अपने कमरे में घुसकर दरवाजा बन्द किया। वहां वह अपनी चारपाई पर लेट गया। उसकी नजर एकदम पत्नी की फोटो पर पड़ी। आंखों से अश्रुधारा बह निकली जो कुछ मिनट तक रुकी ही नहीं।

उस समय उसको अपनी खोई हुई चीज का एहसास हो गया। वह 'पागल' शब्द सुनकर ही पागल हो गया। वह दीवारों के साथ बातें करने लगा तथा पागलों की तरह अपने जीवन–साथी को इसी कमरे में ढूंढ़ने को बैचेन हुआ मानो कोई अनमोल चीज गुम हो गई थी, जिसको वह पाने की चेष्टा में था। वह पागलों की तरह पत्नी को पुकारने लगा। आखिर में उसने उसका फोटो दीवार से उतारकर उसको सीने से लगाया। कुछ समय तक उसके साथ उसी तरह बातें करने लगा, जिस प्रकार पत्नी के साथ करता था। और इसी के साथ कुछ क्षण के लिए उसको यह एहसास हुआ कि उसने अपनी चीज फिर से पा ली है, मानो रास्ते में कहीं गुम हो गई थी और किसी स्थान पर जाकर उसको मिल गई। उसने फोटो को एक बार सीने से लगाकर उसके कई चुंबन ले लिये। इतने में किसी ने एकदम दरवाजा खोला। यह श्यामा थी।

श्यामलाल को इस प्रकार देखकर वह पहले चौंक–सी गई, फिर होंठ विकृत करके दरवाजे को फिर बन्द किया। श्यामलाल ने जब बहू को देखा, तो उसके हाथ से फोटो एकदम नीचे गिर गया, मानो इस बात का एकदम एहसास हो गया उसे, कि यह जो मैं कर रहा हूं, सब पागलपन है। दरअसल जो मर जाता है, वह फिर कभी वापस नहीं आता।

(समकालीन भारतीय भाषाओं की पत्रिका
साहित्य–अकादमी, सितम्बर–1988)

❑

बारह

गाली

"क्या कहा?"—सदरी चौंक पड़ी। उसके तन–बदन में आग लग गई। दीवार की ओर से झट नजरें हटा कर उसने सामने वाले पड़ोस के मकान की ओर ध्यान से देखा कि वहां किसी ने न सुन लिया हो। किन्तु वहां कोई नहीं था। उसने चैन की सांस ली। तीन–चार वर्षीय खजरी सामने खड़ी थी, फिरन–पाजामा पहने कुछ इस अंदाज से कि जैसे सदरी ने कोई खता की हो और वह उसका बदला लेने आई हो।

"ऐसा आइन्दा नहीं कहना"—सदरी ने बेटी की ओर देख कर कहा। फिर उठी और उसे थाम कर सामने बिठाया। किन्तु वह गिड़गिड़ा कर रोयी। क्यों? यह उसकी समझ में नहीं आया। मां का गुस्सा और बच्चे की शरारत के इस आपसी टकराव के बीच उस समय कमरे में एक हंगामा–सा मच गया और सदरी ने एकदम खजरी के नन्हें गाल पर जोर से एक चपत जड़ दी, फिर दूसरी और फिर तीसरी–

चपत की इस गोली–वर्षा से खजरी को पहले कुछ दिखाई ही न दिया कि मैं कहां हूं? किंतु दूसरे ही क्षण होश संभालने के बाद वह एकदम उठी और सीढ़ियों उतर कर नीचे आंगन में जा कर जोर से कहने लगी—तेरी मां की—तेरी बहन की—और न जाने क्या–क्या वह रोयी चिल्लायी और यहां तक कि दीवारों से भी अपना सिर पटकने लगी।

सदरी ने यह सुना। उसके दिल की धड़कन तेज हो गई। सारा शरीर पसीने से तरबतर हो गया। माना कि गोपी बात–बात पर गालियां

बकता है तो क्या हुआ? किन्तु यह खजरी! इसने किससे ये गालियां सीखीं हैं? बेटी अपनी मां को गाली दे—यह कैसी अजीब बात है। गालियों के भी कई प्रकार हैं। कोई गाली ऐसी होती है, दी भी जाए तो मां बच्चे पर कुढ़ती नहीं बल्कि हुपक कर उसको प्यार करती है। किंतु यह गालियां कुछ और ही हैं। शायद जरूरत से ज्यादा गन्दी। ये पड़ोसी हमारे संबंध में क्या सोच रहे होंगे।—इन्हीं बियाबानों में भटक कर न जाने सदरी कहां से कहां पहुंच गई। और कुछ क्षण बाद जब वह संभली तो नीचे गोपा की आवाज सुनायी दी। आवाज क्या थी—गालियों की वर्षा। भौंड़ी–भौंड़ी—सी तेज–तर्रार गालियां। वह एक बार फिर सहम गई। वह उठी कि यह देख लूं वह किस को गालियां दे रहा है। किन्तु ज्योंही उसने खिड़की में से देखा तो उसको आश्चर्य हुआ। कैसा लड़का है यह भी? कुत्ते को बांध कर यदि उसके साथ खेलना हो तो गालियां देने से ही इसका शुभारंभ किया जाता है?—उसने अपने–आपसे कहा।

इस समय उसके सात वर्षीय गोपा बेटे की भी यही हालत थी। वह कहीं से कुत्ते के बच्चे को रस्सी से बांध कर यहां लाया था और छड़ी से उसको मारते हुए मजे में गालियां बक रहा था—तेरी नानी की—तेरी मां की—तेरी बहन की—

"चुप कर"—सदरी ने गुस्से में कहा।

गुस्सैल गोपा पहले चौंका किंतु ज्यों ही उसने मां को देखा, वह और भड़क उठा। पहले उसने कुत्ते पर दो–तीन जोरदार प्रहार किए, फिर अपनी रट लगाना शुरू किया—तेरी मां की—तेरी बहन की—।

"मैं कहती हूं चुप कर। बेचारा यह जानवर क्या जाने, तू क्या कहता है"—सदरी ने एक बार फिर अपनी कड़कती हुई आवाज में कहा।

"मैं तो इसके साथ खेल रहा हूं। देखती नहीं?"—गोपा का उत्तर था।

खेलो, मगर ये गालियां?—सदरी ने समझाते हुए कहा। ओह गालियां? अब समझा। तुम क्या इसीलिए मुझ पर कुढ़ती हो—गोपा ने भोलेपन से कहा।

मैं किस को समझाऊं। यह तो पागल है—सदरी ने अपने आप से कहा। किंतु वह इस बात से जरूर परेशान थी कि यदि भाई—बहन ऐसे ही गाली बकते रहे तो पड़ोस में उसका घर गाली नाम से ही पहचाना जाएगा।

शाम को जब उसका पति काम से लौटा तो सदरी ने चाहा कि उसको यह बात बता दे। फिर सोचा, न बताना ही अच्छा है। रहमान का भरोसा नहीं। जो बात—बात में गाली बक दे, उस पर क्या विश्वास? इतने में खजरी बाप के पास आ कर उसकी गोद में चिपट गई—

"मां ने मुझे माला"—खजरी ने कहा।

"क्यों मारा?"—रहमान ने पूछा।

पहले खजरी सावधान हुई। फिर मां की ओर चोर—निगाहों से देखा। अंत में अपना मुंह बाप के कान तक ले जा कर कहा—तेरे मां की—

रहमान चौंक उठा। बोला—"नहीं ऐसा नहीं कहते।"

"क्यों नहीं कहते? सब कहते हैं"—खजरी ने फिर मुंह को बाप के कान तक ला कर कहा।

"कौन कहता हैं?"—रहमान ने कहा।

"गोपा कहता है, मैं भी कहूंगी।" यह सुन कर रहमान एकदम चुप हो गया। सामने की दीवार से नजरें हटा कर उसने सदरी की ओर देखा किंतु वह फर्श की ओर देख रही थी। कुछ क्षण बाद उसकी आंखें रहमान के साथ मिली तो वह जरा झेंपी। शायद झेंप को मिटाने के लिए उसने कहा—"आज सुबह ही मैंने इसे पहली बार कहते सुना है—"

"क्या?"—रहमान ने खजरी के गाल पर एक हल्की—सी चपत जड़ दी।

"वही जो अभी—अभी कान में कहती थी"—सदरी ने कहा।

"तुम्हें कैसे मालूम?"—रहमान ने पूछा।

"बस जान गई।"—सदरी ने मुंह फेर लिया।

"जरा बोल कर बताओ न ? मैं भी तो सुनूं"—रहमान ने जिद्द

पकड़ ली।

सदरी शर्मा गई।

"मैं दूसरी बात भी बताऊंगी"—खजरी बीच में बोली।

वही जो मां आपको कहना नहीं चाहती—खजरी ने मां की ओर घूर कर देखा।

"तू बता मैं सुनूंगा"—रहमान ने कहा।

"मां ने मेली गाल पर जोरदार तीन चपत माली। यह देखो मेली गाल पर निशान"—खजरी ने अपना गाल रहमान की ओर बढ़ा कर कहा।

अब तक रहमान का ध्यान इस ओर नहीं गया था। खजरी के गाल पर चपत के ये बड़े—बड़े निशान देख कर उसको बहुत गुस्सा आया। फिर पत्नी की ओर प्रश्नवाचक दृष्टि से देखा।

रहमान को इस तरह देख कर सदरी भड़क उठी—"हां मैंने उसको मारा, ठीक कहती है। किन्तु उससे पूछो, किसलिए मारा है?"

"गाली देने के लिए"—खजरी बीच में बोली।

"गाली क्यों दी"—सदरी का प्रश्न था।

"मैंने गोपा से सीखी, इसलिए दी"—खजरी ने भोलेपन से उत्तर दिया।

"तुमने क्यों सीखी?"—सदरी ने पूछा।

"गोपा जो बात—बात पर गालियां बकता है तो ये मेरी जुबान पर भी चढ़ जाती हैं। इसमें मेरा क्या दोष?"—खजरी ने कहा।

यह सुन कर सदरी पसीने से तरबतर हो गई। खूब ताम—झाम से जो कुछ कहना था, वह गले में ही अटक गया। रहमान भी कुछ न कह पाया। अंत में सदरी कमरे से बाहर आयी। रहमान ने खजरी से कहा—"एक बात मानोगी?"

"हां मानूंगी"—खजरी ने सिर हिलाया।

"किसी से नहीं कहना"—रहमान ने समझाया।

"किसी से नहीं कहूंगी"—खजरी ने सिर हिलाया।

"बोलो, मेरी कसम"—रहमान ने कहा।

"तेली कसम"—खजरी ने सिर हिला कर कहा।

"यह गाली है। मां सच कहती है। किसी को गाली देना गुनाह है। जानती हो?"—रहमान ने समझा कर कहा।

"हां जाना। अब मैं किसी को गाली नहीं दूंगी"—खजरी ने कहा।

इतने में गोपा ने आंगन में फिर प्रवेश किया—गालियां बकते हुए तेज—तर्रार गालियां। रहमान ने खिड़की में पर्दे के झरोखे में से देखा—हां, यह वही था, गोपा। अब की बार उसने एक लम्बी रस्सी से बछड़े को पकड़ा हुआ था। एक हाथ से रस्सी खींच रहा था तथा दूसरे हाथ से उसको कोड़े मार—मार कर गालियां दे रहा था—तेरी मां की—तेरी बहन की—तेरी नानी की—।

रहमान ने यह सब देखा। उसको बहुत गुस्सा आया। वह धीरे—धीरे सीढ़ियां उतरा और गोपा के पास आकर पीछे से उसकी गर्दन पकड़ ली और जोर से दो—चार थप्पड़ मारे। गुस्सैल गोपा ने एक लम्बी चीख मारी और रुआंसी आवाज में खूब गालियां बकने लगा--तेरी मां की—तेरी नानी की—तेरी बहन की—तेरी बेटी की—।

बेटी का नाम सुन कर रहमान की क्रोधाग्नि कुछ और भड़क उठी। उसने पहले गोपा के नन्हें गाल पर दो—तीन थप्पड़ मारे। बाद में उसको नीचे लिटा कर लातों से भुरकस निकाला। गोपा चिल्ला—चिल्ला कर रोने लगा। सारे पड़ोसी यह दृश्य देख रहे थे। अंत में पास वाले मकान के रामजू ने आंगन में प्रवेश कर रहमान से गोपा को छुड़ाया। बाद में उसके बदन पर थप्पड़ से पड़े निशान को सहलाया। आंसू पोंछे और कमरे में लाकर शांति से लिटा दिया।

रहमान के गुस्से की आग अभी बुझी नहीं थी। वह भी उसी कमरे में आ धमका और बद्हवासी की हालत में कहने लगा—"मैं इसको जिन्दा नहीं छोडूंगा। क्या यह मेरी बेटी को गाली देगा?"

"बेटी को?"—रामजू ने यों ही आश्चर्य प्रकट किया।

"हां मेरी बेटी को"—रहमान ने फिर गुस्से में कहा।

"बेटा, इसकी बेटी कौन है?"—रामजू ने गोपा से पूछा।

गोपा पहले कुछ सोचने लगा। फिर एकाएक कहने लगा—"खजरी"

"वह तुम्हारी क्या लगती है?"—रामजू ने प्रश्न किया।

"बहन"—गोपा ने निसंकोच भाव से उत्तर दिया।

"और तुम उसके क्या लगते हो?"—रामजू का प्रश्न था।

"भाई"—गोपा का उत्तर।

"भाई बहन को गाली देता है?"—रामजू का एक और प्रश्न।

गोपा ने पहले सिर झुकाया फिर कुछ क्षण बाद सोच में पड़ कर कहा—"नहीं।"

"तो तुमने गाली क्यों दी?"—रामजू का प्रश्न था।

"मुझे क्या मालूम। गुस्से में सब गाली देते हैं।"—गोपा ने कहा।

"नहीं, ऐसी बात नहीं। गुस्से में कोई गाली नहीं देता।"—रामजू ने समझाते हुए कहा।

"खुदा की कसम। ऐसी बात जरूर है। मैंने अपने कानों से सुना है"—गोपा ने एक ही सांस में कहा।

"कहां?"—रामजू ने पूछा।

"यहां, इसी घर में"--गोपा का उत्तर था।

"यहाँ कौन गाली बकता है?"—रामजू को आश्चर्य हुआ।

गोपा ने पहले चोर—निगाहों से बाप की ओर देखा, फिर एकदम उसकी ओर संकेत करते हुए कहा--"बापू।"

"रहमान?"—रामजू ने आश्चर्यान्वित होकर कहा।

"हां सच कहता हूं। और बापू बात—बात पर मां को गालियां देता है। मैं सुनता हूं और न जाने ये मुझे क्यों एकदम याद रहती है। और जब गुस्सा आता है तो उसको दूर करने के लिए इन की ही तरह गालियां बकता हूं। आप ही बताइए, इसमें मेरा क्या दोष?"—गोपा ने सविस्तार सुनाया।

यह सुनकर रामजू ने सिर झुका लिया। वह कुछ नहीं बोला। और रहमान को सब जगह अंधेरे के सिवाय कुछ नहीं दिखाई दे रहा था। उसने जब गोपा की ओर देखा तो ऐसा महसूस हुआ कि धरती में कोई ऐसी जगह दिखाई नहीं देती है जहां वह समा जाए।

('भाषा' बाल–विशेषांक)

❑

तेरह

मां

मां, हां मां, यह शब्द इतना मीठा, इतना गहरा और इतना व्यापक लगता है कि इसका मन में एक बार उच्चारण करे तो शांत, नीरव संध्या में वृक्षों के पीछे घिरते गूढ़–गम्भीर आकाश की तरफ देख, सचमुच ईश्वर की छवि दिखाई देती है। इस समय तो मेरा ऐसा ही हाल है किन्तु बाल्यकाल में मुझे मां पर इसलिए गुस्सा आता क्योंकि वह मुझ पर हद से ज्यादा निगाह रखतीं थीं, सामान्य बात पर पहाड़ उठा लेती, मेरे तनिक अस्वस्थ होने पर अनावश्यक बेचैन हो जाती और जब मैं पास की गली से टहल कर घर वापस आ जाता, तो कड़कती आवाज में कहतीं–इस तरह बेकार टहलने से क्या मिलता है तुमको? पता नहीं, आजकल के छोकरों को क्या हो गया है! परीक्षा की तैयारी करने वाले बहुतों को देखती हूँ, पर तुम्हारी तरह किसी और को नहीं! गांठ बांध ले,कहें देती हूँ। इस बूढ़ी मां की बात एक दिन समझ में आएगी। मैं तो मां की यह बात सुनता और चुपचाप काम में लग जाता।

मेरी मां तो यह सब यों ही नहीं कह देती। उसने अपनी सारी उम्र अनन्त धैर्य और शांत चित्त के साथ कई प्रकार के मुश्किलों को सहकर, उसमें पार उतरने की, परिस्थितियों को समझने और उसमें से अपना सार निकालने की योग्यता ने उसको काफी ऊपर पहुँचा दिया है। आज बहुत दिन क्या, महीने और साल हो गए इन बातों को हुए और इस वक्त मुझे अहसास होता है कि मेरी सभी सिद्धि–सफलता का यश तो मेरी मां को है या मेरे जीवन मे जो सुनहरी बनावट आ गयी है, उसके लिए मां ने अपना शरीर घिसा है। यह तो उसी का आशीर्वाद है कि मैं इस समय एक उच्च पद पर आसीन

हूँ। भगवान की दया से रोजी रोटी चलती है। इस समय घर में कई नौकर–चाकर हैं। किसी प्रकार की कोई चिन्ता नहीं, झंझट नहीं। सब कुछ चलता है ऊपर वाले की दया से। आज मुझे इन सब बातों की याद क्यों आती है जबकि सारा दिन दफ्तर में व्यस्त रहता हूँ। दरअसल मेरी नियुक्ति यहां के उस विभाग में हुई है जहां मुझे हर साल बाहर जाने का मौका मिलता है और वहां देश–विदेश के सैलानियों को कश्मीर–घाटी की ओर खींच लेने के लिए भाषण देने पड़ते हैं, गोष्ठियों का आयोजन करना पड़ता है। इसी एक विदेश यात्रा के सिलसिले में मुझे पिछले साल जापान जाना पड़ा और वहां मेरे एक सैलानी–मित्र से परिचय हुआ। मैंने उसको कश्मीर आने का निमंत्रण दिया। उसने मेरे इस निमंत्रण को सहर्ष स्वीकार किया। साथ ही यहां आकर कोई कश्मीरी पकवान खाने की उत्सुकता प्रकट की।

गत सप्ताह उसका पत्र आया है। सैलानी–मित्र इस समय पहलगांव के एक होटल में ठहरे हैं। इस समय मुझे उसको मिलना है। लाख बार सोचा कि यहां से उसके लिए क्या बनाकर लाऊं! कश्मीरी पकवान खाने की उसकी तीव्र इच्छा! कुछ समझ में नहीं आया क्यों कि वहां सैलानियों को होटल में सब कुछ मिलता है। अंत में मां के कहने पर ही मछली को कश्मीरी अंदाज से पकाया किन्तु मछली को खरीदने से पहले मैं पुल के इस पार मछली बेचने वाली के पास गया।

उसके पास पहले ही एक छोकरा खड़ा था। लम्बे लम्बे बाल थे उसके ! 'आई लव यू' शर्ट पहने वह स्मार्ट लग रहा था वह! क्या ऐसे छोकरे भी मछली खरीदते है! मैंने अपने आप से पूछा। 'क्यों नहीं? पेट हर किसी को हाथ–पांव मारने के लिए मजबूर करता है।–मैंने अपने प्रश्न का उत्तर स्वयं दे दिया। फिर भी कौतूहल वश थोड़ी देर के लिए मैं उसके समीप आ गया। इस बार उनकी बातें साफ सुनाई देने लगीं। मैने न चाहने पर भी उनकी ये बातें सुनीं–

'क्या अभी तक यह सब बिका नहीं!'

'बिकेगा क्यों नहीं। अभी तक ग्राहकों के आने का समय नहीं है।'

'तो इस तरह बिकने तक मेरा सिनेमा भी रुका रहेगा! बता! 'शो'

एक बजे शुरू हो जाता है कि आप हैं कि मछलियों को बिकना नहीं आता। थोक में माल क्यों नहीं बेचतीं'

'खुदरा बेचने से एक किलो में दो रुपया अधिक कमाती हूँ।

'ऊहं! आपकी लापरवाही से ही मेरा आज का सिनेमा रुक जायेगा।'

'जरा सब्र तो रख। रुको भी तो।'

'ठीक है, रुकता हूँ ! कम–से–कम दस पैसे सिग्रेट के लिए दे ना।'

मछली बेचने वाली से दस पैसे लेकर छोकरा वहां से खिसक गया। उसकी ओर निहारती हुई मछली बेचने वाली ने एक लम्बी आह भर लीं। यह सब मैं किंकर्त्तव्य विमूढ़–सा देखता रहा। कौन होगा यह इसका ! किसी सगे–संबंधी का बेटा ! अपने किसी परिचित का लाल? इतने मैं वह पास बैठी किसी अन्य मछली बेचने वाली से कहने लगी–'सुना खोतनधदी, इसे लेकर ही मुझे चिन्ता है। आगे–पीछे यही तो एक मात्र बेटा रह गया है और इसका मिजाज तो देख लिया न ! स्वयं भूखी रहती हूं किन्तु इसको दो वक्त की रोटी खिलाती हूं। स्वयं कष्ट झेलती हूं किन्तु इसको यह अहसास नहीं होने देती हूं कि इसका पिता मर गया है। तिसपर भी यह ना समझ होता जा रहा है। बस दिन रात सिनेमा, टेलिविजन और रेडियो की किलकारियों में मस्त रहता है। कहीं मुझे कुछ हो जाए तो उस समय खुदा ही जानता है कि इसका क्या होगा।

मैंने यह सब सुना और अवाक् होकर रह गया। मछली बेचने वाली की ये बातें मेरे हृदय को छू गयी। एक बार फिर मछली वाली की ओर देखा, उसके पैबंद लगे 'फिरन' की ओर देखा, जीर्ण–टूटी चप्पल की ओर देखा। वैसे तो मेरी समझ में कुछ नहीं आया। मुझे तो इस पर ज्यादा सोचने की फुरसत न थी। मुझे तो समय पर पहलगांव पहुंचना था और सैलानी मित्र से मिलना था। मैंने झट मछली बेचने वाली से एक किलो मछली खरीदा। घर आकर इसको पकवाया और शाम की बस पकड़कर पहलगांव के लिए प्रयाण किया।

यहां सैलानी–मित्र मेरी ही प्रतीक्षा कर, होटल के बाहर खड़े

थे। ज्योंही उसने मुझे देखा, वह झट मेरे पास आ गए और अपनी दोनों बाहें पसारकर गले लग गया। फिर हमने होटल में प्रवेश कर उस कमरे में आ गये जो उसके लिए 'बुक' हो गया था। इतने में उसने दो चाय के लिए बैरे से कहा किन्तु ज्यों ही मैंने बैग से 'टिफिन' निकालकर उसके सामने रखा तो वह एकदम समझ गया कि इसमें क्या है। इसको देख कर होंठों पर मुस्कान बिखेर कर उसने पहले शराब के दो तीन पैग पिए, तत्पश्चात मछली के दो तीन टुकड़ों को खाने लगा। इस बीच हमने आपस में कई विषयों पर बातचीत की–कश्मीर की प्राकृतिक–सुषमा से लेकर यहां की बिगड़ती राजनीति तक के सभी पहलुओं को हमने छन्नी में आटे की तरह छान लिए। किन्तु बातों का यह सिलसिला मेरे इस तरह कहने से टूट गया–इस बीच घर से कोई पत्र आया ?

'किसका पत्र आएगा ?'

घर में कोई नहीं है ?

यह सुनकर उसने मेरी ओर ध्यान से देखा। इसके बाद् न चाहने पर कहा–'हां है।'

'कौन ?'

'मां'–उसने फिर यह न चाहने पर कहा किन्तु मैंने भी जिद पकड़कर उसको आखिर पूछ ही लिया–

'क्या उसने कोई पत्र नहीं लिखा ?'

'हां, जापानी दूतावास में उसके दो एक पत्र आए थे। दरअसल घर छोड़े अब मुझे पांच वर्ष हो गए। मां ने मुझे मेरी इच्छा के विरूद्ध जिस काम पर लगाया है, वह मेरे लिए कष्टसाध्य है। इसकी सजा तो उसको जरूर मिलनी चाहिए। हां, बर्मा में भी मुझे उसका एक पत्र मिला। उसको पढ़ कर लगता है कि वह किंचित कष्ट में है।'

'यदि वह किसी कष्ट में है तो उसके पास जाकर आप उसको दूर नहीं कर सकते हैं?'

'यह तो उसका अपना\निजी मामला है। मुझे उसके साथ कोई सरोकार नहीं।'

'किन्तु आपको इसके बारे में पता लगाना ही होगा।'

'पता भी होता तो उससे क्या होगा ?'

'क्या आपको मां की याद नहीं आती ?'

'नहीं, ऐसी बात मुझ में नहीं है। जो आदमी आखों से दूर हो, वह तो दिल से भी दूर होता है,भले ही उसके साथ कोई भी रिश्ता हो–आदमी का।

सबों के साथ रिश्ता कच्चे धागों की तरह होता है और यह बात तो विशेष रूप से मेरी मां पर सही उतरती है–उसने यह सब बिल्कुल लापरवाही से कहा और अंत में शराब के दो–तीन पैग गटक कर पी गया।

मैंने उसकी ओर ध्यान से देखा। उसकी इन बातों को सुन कर मुझे ऐसा लगा कि यह एक कौआ है जो रात–दिन पेड़ पर घोंसला बनाने के लिए व्यस्त रहता है। आशय यही है कि यह चिड़िया के घोंसले में अपने अण्डों को सेकर इनसे बच्चे निकाल लेगी तत्पश्चात इनको अपने घोंसले में लाकर खाना खिलाएगी और जब पंख आकर ये उड़ान भर देंगे तो इनका रास्ता भी अलग और कौआ–कौआी का रास्ता भी अलग। शायद पश्चिम की संस्कृति में मां का मान–सम्मान तो इसी तरह किया जाता रहा हो। मेरे लिए यह एक नयी बात है किन्तु सैलानी–मित्र तो सच कहते हैं।

शाम को जब मैं लेट गया तो मेरी आखों के सामने तीन चेहरे उभर कर सामने आए–मछली बेचने वाली उस छोकरे का, सामने लेटे हुए इस सैलानी–मित्र की मां का और इन दोनों के बीच अपनी मां का। तीनों परस्पर पूर्णतः भिन्न–भिन्न! इस बीच मुझे कब नींद लग गयी, इसका मुझे कोई पता नहीं।

आधी रात को जब करवट बदलकर देखा तो मैं एकदम चौंक गया। दूसरे बेड पर मेरा यह सैलानी–मित्र गायब था। मैं झट इसको इधर–उधर ढूँढ़ने लगा किन्तु वहां कोई नहीं था। इसके बाद मैंने दरवाजा खोला और दबे पांव बाहर आने पर अपने इस सैलानी–मित्र को बरामदे

के एक कोने में पाया जहां वह धड़ाम से लेटा हुआ था। जब मैं उसके पास गया तो देखा कि वह फफक–फफक कर रो रहा था।

'क्यों, क्या बात है ?–मैंने धीमी आवाज में उससे पूंछा।

मेरी आवाज सुन कर वह जोर से रोने लगा। इसके बाद अपनी मुलायम सी सफेद रूमाल से आसुंओं को पोंछकर कहने लगा–'मुझे गलत न समझना'

'मतलब ?'

'मैं हार गया मिस्टर। आप मुझसे बड़े हैं किन्तु मैं कहना चाहता हूं कि अपनी मां के संबंध में मैंने आपको जो भी कहा, वह सब झूठ है। मेरी मां ने मेरे लिए कितना कुछ किया है, वह दूसरा नहीं कर सकता, मैं जानता हूँ और दूसरा जानता है। गॉड। मां ने मुझे कभी नहीं बताया कि उसके लिए उसको कितना कुछ सहना पड़ा है। प्रेम से किया हुआ उपकार भूला नहीं जाता। इसलिए वह इतना पवित्र होता है।

'वह कैसे ?'

'वह इस तरह कि मां मां है। इस शब्द की कोई परिभाषा तो नहीं है। घर में यदि मुझे कोई चाहती है, तो वह मेरी मां है। जिसका अर्न्तमन मुझे संसार की सबसे बड़ी हस्ती के रूप में देखना चाहती है, वह मेरी मां है, जिसने मुझे जन्म देकर कठिन दुःख सह लिया है, वह मेरी मां है और जिसने अपनी गोद में पाल पोस कर बड़ा किया, वह मेरी मां है... वह मेरी मां है... वह मेरी मां है।

वह पागलों की तरह इसी प्रकार कहता गया, बड़बड़ाता–बुदबुदाता गया, पर मेरे लिए यह सब दुर्बोध्य था। तेज–तेज कहने और मेरे कुछ न समझने पर भी, मैं उस समय यही अनुमान लगा पाया कि वह अपनी मां को पुकार रहा था। सिर्फ अपनी मां को। बस, इसके सिवाय किसी को भी नहीं।

('ज्योत्स्ना'–1986–मार्च)

❑

चौदह

गोली का डर

सब जानते थे कि श्रीनगर के मध्य में स्थित शंकराचार्य नामक ज्वालामुखी पहाड़ किसी भी समय फटकर सारी कश्मीर–घाटी का सर्वनाश करेगा किंतु अब तक यह फटा नहीं, फिर भी उसको समय–समय पर इस बात का अहसास होता जा रहा था कि इसमें से लावा धीरे–धीरे निकलता जा रहा है, मगर आज यह पहाड़ एकदम फट गया और लावा भारत के कोने–कोने में बिखर गया। घाटी का कुछ मत पूछिए, वहां गली–गली में मुट्ठी भर गुमराह युवकों ने भय का वातावरण पैदा किया, तड़–तड़ गोलियां चलने लगीं, जोरदार बम–विस्फोंट होने लगे, बैंक लुट गए, मासूम एवं निर्दोष लोगों की हत्याएं होने लगीं, गली–गली में रुदन सुनाई देने लगा और इसी के साथ पंडित और सिख लोगों की बस्तियां शनैः शनैः खाली होने लगीं...कांता यह सब देख रही थी किंतु इसी के साथ कुछ पल के लिए आंखें बंद भी करती, वह सोचती कि ऐसा हर प्रदेश में होता है, फिर भी सोचने की बात है कि जब सरकार ही नहीं है, पर्वत नहीं फटेगा तो क्या आसमान जमीन से मिल जाएगा।

उसको गर्व था कि उसके मोहल्ले का कोई भी लाल गोली चलाने की घटिया हरकत से प्रेरित नहीं हुआ है, आज भी रूखसाना उसके घर मिलने आयी, किसी दिन जब एक–दूसरे को नहीं देखती तो दोनों पागल सी हो जाती थीं, जब से घाटी में यह शोर–शराबा शुरू हुआ, मजाल है कि किसी ने उसको सताया हो, उसके मकान के किसी

द्वार–पट पर पोस्टर चिपकाकर वहां से भागने के लिए कहा हो या मकान की खिड़कियों के शीशे को पत्थर मार कर चूर–चूर किया हो, वह सबों को कहती कि हिंदू–मुसलमान यहां भाईयों की तरह रहते आए हैं, सोचने की बात है कि मैं जिस मोहल्ले में रहती हूं, वहां आसपास कौन रहते हैं? दूध मैं किस से खरीदती हूं? मेरा जल–मल कौन उठाकर लेता है? जो पुष्प मैं मूर्ति पर चढ़ाती हूं, वह किसके बगीचे से लाती हूं और जब मैंने जन्म लिया तो मेरी आया कौन थी? और जब मर जाऊंगी तो श्मशान में चिता पर कौन लिटाएगा? हां, यह वही मुसलमान हैं और आज हम इन को छोड़कर कहां जाते है? जो वतन छोड़ता है, वह अपनी गर्दन काटता है और जिसकी गर्दन कट जाए, उसको अंत में मृत घोषित किया जाता है।

कांता का पति विवाह के दो–एक साल बाद ही यह दुनिया छोड़कर चला गया था। वह उसकी कोख में अमानत छोड़कर गया था–रमेश को किस तरह उसने उसको पढ़ाया–लिखाया और अंत में एक सरकारी कार्यालय में नौकरी दिलवाने में सफल हुई–यह सब कांता ही जानती थीं। उसको लगा कि आज उसके घर में दिया जल रहा है–आर्थिक खुशहाली का और अब उसको इस संकट के अंधियारे से जूझना नहीं पड़ेगा। उसको वह दिन अच्छी तरह याद थे जब रुखसाना ने उसको अपनी बहन जानकर आर्थिक संकट की घड़ियों में मदद की थीं। रुखसाना आर्थिक रूप से खुशहाल नहीं है, यह तो कांता भी जानती थीं, वह भी दिन में मेहनत–मजूरी करके कुछ पैसा कमाकर अपना घर–गृहस्थी चलाती, उसके दिल में सारी उम्र बस यही अरमान रहा कि उसका एकमात्र पुत्र अशफाक कांता के रमेश की तरह कम से कम ग्यारह जमात पास करे और फिर, किसी सरकारी कार्यालय में काम करे, अपने घर की आर्थिक दशा को एक नया आयाम दे, मगर उसका यह अरमान पूरा न हो सका। अशफाक का मन पढ़ने–लिखने में नहीं लगा, वह मटरगश्ती करने में व्यस्त रहता था, पहाड़ियों पर चढ़ने के शौक का बहाना बनाकर वह घर से प्रायः गायब रहता था। वह कहां जाता

था–इसका रूखसाना को भी पता न था और जब कभी वह घर आता तो उसी लिबास में आता जो पहाड़ियों पर चढ़ने वाले लोग पहनते हैं–एअर–प्रूफ जेकेट, कीलनुमा जूते, जीन और अन्य गर्म कपड़े!

'क्या इससे तुम्हारा भविष्य संवरेगा?'–रुखसाना का प्रश्न?

'क्यों नहीं, किसी दिन मेरा नाम इतिहास में लिखा जाएगा'–अशफाक का उत्तर,

'वह कैसे?'–रूखसाना का आश्चर्य,

'वह तो समय ही बताएगा'–अशफाक ने कहा,

'मगर पैसे का क्या सोचा? घर की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं है'–रूखसाना ने समझाते हुए कहा?

अशफाक ने सुना और कुछ नहीं कहा, फिर झट कोट के जेब में हाथ डालकर वहां से सौ–सौ रुपए के नोटों की एक मोटी गठरी निकाली और रुखसाना की ओर थमा दी। नोटों की इस गठरी को देखकर रुखसाना को मानो इस बात का विश्वास हो गया कि उसका बेटा रमेश से कहीं अच्छा काम कर रहा है जिसमें बहुत पैसे बनते हैं, इसमें हजारों रुपए का लाभ है और हो सकता है कि कल यह लाखों क्या, करोड़ों रुपया कमाएगा। घर की आर्थिक दशा एक नई करवट लेगी और क्या पता कल यह इस सारे मोहल्ले को खरीद लेगा, यह सब अल्लाह ही जानता है और अब इसके बार–बार घर से गायब रहने के कारणों का पता लगाने से कुछ नहीं निकलेगा। अल्लाह का शुक्र हैं कि यह कहीं जाता है और पैसे से अपना जेब भरकर आता है, चश्मे बद्दूर! अब मैं किसी से नहीं कहूंगी, यदि कोई पूछेगा भी तो मैं कहूंगी कि वह शाल बेचने बंबई गया है, अब यहां कभी–कभार ही आता है,

इतने में अशफाक वहां से चल दिया, रुखसाना ने पूछा–'अब कब आओगे?'

'जब अल्लाह ने चाहा तो जरूर आऊंगा'–अशफाक का उत्तर,

'मैं तो जरूर वापस आऊंगी, मैं तो वहां स्थायी तौर पर बसने के लिए नहीं जा रहीं हूं, मैंने अपना सारा सामान यहीं रखा है, लीजिए,

यह रही मेरे मकान की चाबियां, सब कुछ तुम्हारे हवाले करती हूं'—कांता ने कहा,

'मगर आप क्यों यहां से जा रही हैं? किसी मुसलमान ने यहां से भागने की धमकी दी है? बता, मैं उसका भुरकस अभी निकाल दूंगी'—रूखसाना की उत्सुकता,

'भगवान की कसम, मुझे किसी ने कुछ नहीं कहा, किसी ने रमेश को मौखिक रूप से चेतावनी दी है कि कश्मीर छोड़ दो, अन्यथा परिणाम के लिए तैयार रहो'—कांता के स्पष्ट शब्द,

'मौखिक चेतावनी से वह डर गया? कितना डरपोक है यह'—रूखसाना ने कहा,

'नहीं, ऐसी बात नहीं, मगर इस समय तो उसको डर लग रहा है'—कांता का उत्तर,

'किसका डर है उसको? बता!'—रूखसाना ने पूछा,

'गोली का डर'—कांता के स्पष्ट शब्द,

'गोली का डर?'—रूखसाना का आश्चर्य,

'हां, गोली का डर। उस पर गुमराह जवानों को उनके विरुद्ध काम करने का शक है। क्या करूं, मैंने उसको समझाया कि सन् 47 के बाद कश्मीर में पराये देश के इशारों पर कई बार हमारे नवजवान गुमराह हो गए हैं किंतु अंत में इनको अपने ही मुसलमान भाईयों ने असली राह पर खड़ा किया। 1947 में पाकिस्तान सेना द्वारा समर्थित कबाईली हमला हुआ तो उस समय मुसलमानों ने सेना का साथ दिया, 1965 में युद्ध हुआ तो मुसलमानों ने घुसपैठियों को पकड़वाने में मदद की और 1971 में युद्ध हुआ तो इसको जीतने में मुसलमान हमाने सामने आये, इस समय भी यही मुसलमान इनको अपनी असली राह पर ला देंगे'—कांता ने कहा,

रूखसाना ने ये सभी बातें ध्यान से सुनीं, इसके बाद कुछ पल के लिए सोच में विलीन हो गयी, फिर चुप्पी को काटकर कहने लगी—'तो भी ये मानते नहीं?'

'नहीं, वह मेरी किसी भी बात से सहमत नहीं, उनका कहना है कि इस समय इनसे मुसलमान भी डरते है'—कांता ने कहा,

यह सुनकर रूखसाना सोच के बियाबान में घूम गयी। उसने पहले कांता की ओर देखा और अंत में पूछा—'भला मुसलमान किस से डरेगा? यह भी तो कहने की बात है?'

'मैंने भी यही कह दिया कि मुसलमान इन गुमराहों से नहीं डरेगा, मगर उसने कहा कि अब की बार उनको भी इनकी गोली का डर है, जब वह अपने—आपको बचा नहीं पाएगा तो यहां के हिंदुओं जैसे दो प्रतिशत अल्पसंख्यकों को कैसे बचा सकता!'—कांता ने कहा,

कौन मारेगा और कौन मरेगा, इसके पीछे कौन से गुमराह तत्व जिम्मेदार है, राज्य में अशांति की चिंगारियां कौन भड़काता है? मां का बेटा कौन छीनता है? सुहागन का सुहाग कौन लुटाता है? और बहन का भाई कौन मारता है?—इसकी ओर आज पहली बार रुखसाना ने गंभीरता से सोचा। कहते हैं कि सीमा—पार के एक भाग में भी हम जैसे मुसलमान बसते है, उनका रहन—सहन, वेश—भूषा भी हमारी जैसी है। वही पिस्तौल, बंदूक एवं अन्य सिलासामान के साथ सीमा पारकर इस ओर आते हैं और यहां के कुछ राष्ट्र—विरोधी तत्वों से मिलकर तथाकथित 'आजादी' का नारा बुलंद करते हैं। मैं नहीं जानती ये क्या कहते है, हम तो 1947 में आजाद हुए है। हमें अपने धर्म की आजादी है, अपने विचार व्यक्त करने की आजादी है, घूमने—फिरने की आजादी है, अब यहां के मुसलमानों ने गरीबी की बेड़ियां तोड़ दी है, वह तो मजे में जीवन—यापन करता है, क्या उसको वे दिन याद नहीं जब वह दो पैसे के लिए तरसता था और आज उसी मुसलमान ने यहां का सारा कारोबार अपने हाथ में ले लिया है। अपने हाथों से बनाई अपनी अर्थव्यवस्था का महल कौन गिराना चाहेगा? हाथ में आयी रोटी कौन किससे छीनने के लिए कहेगा? मगर आजकल जो यहां हो रहा है, वह तो कभी नहीं हुआ है, पंडित लोग तो इस तरह अपना वतन छोड़ने पर मजबूर नहीं हुए थे। यहां तो हिंदू—मुसलमान भाईयों की तरह रह रहे हैं और रहेंगे भी,

मगर आज यहां यह क्या हो रहा है, बिना किसी प्रकार की हानि पहुंचाए ये क्यों यहां से भाग रहे है। यहां मुसलमान तो इनसे भागलपुर, मुरादाबाद या भिवंडी में हुई घटनाओं का बदला लेना नहीं चाहता। यहां इनके भागने से हमारा अस्तित्व मिट कर रह जाएगा, हमारा तो इस बात पर अटल विश्वास है कि जिस तरह शरीर के दो कान, दो आंखें, दो टांगें और दो बाजू का अस्तित्व एक दूसरे से जुड़ा हुआ है, उसी तरह हिंदू–मुसलमान के सुख–दुख एक हैं, फिर भी इंसान–इंसान से नफरत करे––यह कैसी शर्म की बात है!

मगर आज वह जान गयी कि वह जो सोचती थी, कोरा दर्शन है। वह सुन्न होकर देखती रही। चौराहे पर देखते ही देखते हलचल पैदा हो गयी, गोलियां तड़–तड़ चलने लगी और इसी के साथ आस–पास की गलियों में लोग भागकर मानो मटर के दाने की तरह बिखर गए। तारकोल से पुती हुई एक सड़क पर इन्हीं में से एक धड़ाम से गिर गया और गोलियों से छलनी उसके शरीर से खून बहने लगा। रूखसाना भी अपने–आपको बचाने के लिए इन्हीं एक गलियों में छिप गयीं। उसने सोचा कि यह क्या हो गया है हम लोगों को। हम तो पागलों से भी बदतर हो गए है, किसी निर्दोष को मारना कुरान के उसूलों को ताक में रखना है। कुछ सैकंडों के बाद उसने पीछे की और देखा, चारों और सन्नाटा लग रहा था। यहाँ–वहाँ उसको कोई दिखाई नहीं दिया, सिवाय वह चौदह वर्षीय नवजवान जो भागकर उसकी गली में फंस गया था। उत्सुकता–वश उसने उसको पूछा––'यह किसका कत्ल किया गया?'

'मुखबिर का!'–उसका उत्तर

'क्यों? किस लिए? उसका दोष क्या था?'–रूखसाना के एक साथ तीन प्रश्न

'साले के इरादे नेक नहीं थे, यह तो हमारे विरुद्ध काम कर सकता था, उसको पिछले ही सप्ताह मरना था, मगर जान बचाने के लिए मां के साथ जम्मू भाग गया, किंतु कुछ ही दिनों के पश्चात् यहां आया था, ट्रक में घर का सामान लेने के लिए, साला! पहली बार तो

बच गया किंतु इस बार ये क्या इसको छोड़ते!'––छोकरे ने एक ही सांस में कहा,

रूखसाना ने ध्यान से सुना किंतु उसको लगा कि उसकी इन बातों का कोई वजन नहीं है। फिर भी उसने छोकरे से पूछा–'नाम क्या था इसका?'

'रमेश'–छोकरे ने इस तरह कहा कि जैसे हवा में गुब्बारा उड़ाया,

यह सुनते ही रूखसाना की हवाईयां उड़ गयीं। उसका शरीर पसीने से तरबतर हो गया, आंखों से आंसू बह गए और पीछे की ओर दूर से देखा––हां, वहां कुछ पुलिस कर्मचारी खड़े थे और शव को 'एम्बुलेंस' गाड़ी में भर रहे थे। इतने में इस सारे क्षेत्र में कर्फ्यू लगाया गया, कातिलों को ढूंढ़ने के लिए घर–घर तलाशियां लेनी शुरू हो गयी।

इसी तरह तीन दिन बीत गए, इस बीच रूखसाना हर बार अपने आपसे पूछती कि कांता के रमेश को किसने गोलियों का निशाना बनाया। उसके बसे–बसाए घर को किसने देखते ही देखते आग लगा दी। कांता झूठ नहीं कहती थीं कि मैं अपने वतन को नहीं छोड़ती मगर गोली का डर उसको ऐसा करने के लिए मजबूर कर रहा है। कौन है? वह कातिल जिसने मेरी और कांता के आपसी संबंधों में एक दरार पैदा की है? यदि इस समय अशफाक यहां होता तो उसने पुलिस का साथ देकर असली हत्यारे का पता लगाया होता। बेकार तलाशियां लेने से क्या होगा जब तक न असली हत्यारे का हुलिया पता हो'–रूखसाना यही सोच रही थीं कि इतने में रेडियो से खबर आयी–

'रमेश के असली हत्यारे को पाकिस्तान से लगने वाली सीमा के इस पार किसी स्थान पर सेना ने पकड़ा है। हत्यारे का नाम अशफाक है जो श्रीनगर के हब्बाकदल क्षेत्र में रहता है। एक सफल पर्वतारोही होने के कारण उसने अब तक बीस बार सीमा पार की है और वहां बंदूक से राकेट–लांचर चलाने तक का प्रशिक्षण प्राप्त किया है, घाटी में किए बीस कत्लों में उसका हाथ है। सरकार ने उसको किसी भी तरह पकड़ने

में पचास हजार रुपये का इनाम देने की घोषणा की थी किंतु तुर्रा यह कि सीमा पार के अधिकारियों ने इसको केवल दस हजार रुपए में खरीदा था,'

रूखसाना ने सुना और उसने महसूस किया कि शंकराचार्य–पर्वत सच ही फट रहा है और इसमें से निकलने वाला लावा दूर–दूर तक फैलता जा रहा है। मानव–मूल्यों के मोतियों की माला दूसरों की शह पर काटी जा रही है और यहां के सालों–साल से सिंचित भाईचारे के पेड़ को जानबूझकर काटा जा रहा है, क्या यह सिर्फ गोली के डर से संभव हो पाया है!

(दिनमान टाइम्स, सितम्बर 1990)

❑

पन्द्रह

आतंक बीज

बात यहां से प्रारंभ हुई कि उस दिन मैं कर्फ्यू लगते ही रास्ते में फंस गया। शहर में सुरक्षा बलों ने अपने मोर्चे संभाले। सड़कें सुनसान पड़ गयीं। सुबह सात बजे तक यातायात बंद हो गया। इस बीच मैं समय पर घर नहीं पहुंच पाया। किसी तरह तंग किन्तु लम्बी गली से गुजर कर अगले दिन कर्फ्यू खुलने तक अपने एक मित्र के घर में शरण ली। घर में समीना अकेली थीं। समीना! हां वही, समीना! मेरी पत्नी! इस समय तो वह मेरी राह तकती रही होगी। किन्तु उसके पास न पहुंचने की स्थिति में हूं। किसी भी तरह वह रात अपने उस मित्र के यहां काट ली और सुबह सात बजे कर्फ्यू खुलते ही वहां से चल दिया। इस समय मेरा घर पहुंचने का क्या महत्व है? शायद कुछ भी नहीं या शायद बहुत कुछ! मिसाल के तौर पर मैं तेरह घंटे घर से बाहर रहा इस कर्फ्यूस्तान के शहर में और मेरे पीछें...

किंतु ठहरिए, मैं आपको शुरू से पूरी घटना सुनाता हूं। मित्र के यहां से लौट कर जब मैं सड़क पर आया तो ऐसा लगा कि कुछ हुआ ही नहीं है। सब कुछ पहले की तरह सामान्य है। दुकाने खुलीं है, बाजार लगे हैं। लोग निर्भयता से सौदा–सुलफ कर रहे है। कल की वह सुनसान सड़कें जिन पर सुरक्षाकर्मियों के सिवाय कोई भी चल नहीं सकता था आज उन्ही पर खासी चहल–पहल है। मैं तो यही सोच रहा था कि किसी ने मुझे आवाज दी। मुड़कर देखा तो यह हमारी पड़ोसन खोतनद्यदी थी। बेचारी बुड्ढ़ी। अपने पहले पति के बच्चों को

पालने–पोसने के लिए उसने न चाहने पर दूसरी शादी की थी। इस समय सब्जी खरीदने यहाँ आयी थी। आलू की टोकरी लेकर वह अपने घर की ओर जा रही थी।

'बेटे, यह टोकरा मेरे घर तक ले चलो–खोतनद्यदी ने कहा।

मैंने झट उसके हाथ से टोकरा ले लिया और मुस्करा कर कहा–'क्यों नहीं।'

वह मेरे साथ चल दी और गली के नुक्कड़ तक पहुंच कर उसने आत्मीयता से पूछा–'समीना कहां है?'

'वह तो घर में है।'–मेरा उत्तर।

'हां, उसको घर में ही रखना चाहिए। फिर भी आपको उसका पूरा पता है?'–खोतनद्यदी ने कुछ इस तरह कहा कि मैं शक में पड़ गया।

'आपके कहने का क्या मतलब है?'–मैंने पूछा।

'इस तरह भोले मत बनो'–खोतनद्यदी ने कड़क कर कहा।

इस समय मुझे खोतनद्यदी को देखते अजीब सा लगा। मैंने एक बार फिर उससे पूछा––मैं अब भी समझा नहीं।

'बेटे, जमाना बदल गया हैं कश्मीर तो ऋषि–वाटिका थी किंतु आज कल यह राक्षस–वाटिका बन गयी है।'–उसने समझाते हुए कहा।

'इस राक्षस–वाटिका में क्या होता है?'–मैंने भोले से पूछा।

उसने मेरी ओर ध्यान से देखा। कहा–'इसमें सभी जगह राक्षस नाचते हैं। अब तो यहां उन्हीं का राज चलता है और औरत...'

'औरत का क्या होता है?'–मेरा प्रश्न

'इनके राज्य में औरत औरत नही रही है। हां, वही औरत....। ला, दो यह मेरा टोकरा। धन्यवाद!'–खोतनद्यदी ने हाथ बढ़ाते हुए कहा।

यह सुनकर मैं धक् से रह गया। मेरे कदम ठहर गए और उसकी बातों के रहस्य की तह तक जाने लिए मैंने उसे पूछा–'टोकरा तो मैं तब तक नहीं दे सकता जब तक तुम सारी बात खुलकर कह देगी।

समीना का इस बात से कोई संबंध है?'

'मैं तो कुछ नहीं कह सकती मगर चेतावनी देना तो मैं अपनी कर्त्तव्य समझती हूं।'–उसका उत्तर।

'पर मैं पूछूंगा तो किससे? आप ही बताइए न कि समीना का नारीत्व'–मेरा प्रार्थना भरा स्वर।

'नईमा से पूछो। मैं कुछ नहीं कह सकती।'–यह कहते हुए उसने मेरे हाथ से टोकरा छीन लिया और फुर्ती से दूसरी गली की ओर जा घुसी। इस समय मुझे लगा कि यह बुड्ढी नहीं बल्कि जवानों की तरह चल रही है।

इस समय मुझसे रहा न गया। असली बात क्या है–यह जानने के लिए में उत्सुक हो गया। नईमा करीब की गली को छोड़कर सड़क के दायें तरफ रहती थीं। मैं तुरन्त उसकी ओर चल दिया। सौभाग्य से वह घर पर ही थीं। चालीसी लांघकर भी वह अभी कुंवारी है। इसका प्रमुख कारण तो मैं ही हूं। उसने मुझे चाहा था किंतु अंत में मैंने उसके साथ शादी नहीं की। क्यों? इसका तो मुझे इस समय भी पता नहीं चल सका है। मैंने सोचा कि प्रतिशोध के कारण वह मेरी पत्नी को बदनाम कर रही है। ज्यों ही मैं उसके कमरे में आया तो वह मेरी ओर आश्चर्यान्वित होकर देखने लगी। मैंने दांत पीसकर उससे कहा–'आप मेरी पत्नी को इस तरह बदनाम क्यों कर रही है?'

'मुझे आपकी बातें समझ में नहीं आती। आप क्या कहना चाहते है?'–उसने कहा।

'यही कि आप मेरी पत्नी को बदनाम कर रही है'–मैंने एक बार फिर कहा।

'बदनाम नहीं कर रही हूं। यह तो सत्य है–नहीं है। यह तो निराधार झूठ है।

'खैर कुछ भी हैं पर तुम यह सब किस आधार पर कहती हो?'–मैंने पूछा।

'आधार तो कुछ भी नहीं। पर रूबी भी मेरी इस बात से सहमत

है।'—उसका उत्तर।

'आपको वह कब मिली?'—मेरा प्रश्न।

'वह तो मेरे पास आती रहती है। उसका तो इस बैंक में पच्चास लाख रुपया जमा है। पैसा जमा भी करती है और निकालती भी है। कालबाफ की पत्नी है ना'—उसने कहा।

मेरे विचार हद से ज्यादा उलझ गए। अब तक में असली बात की तह तक पहुंचने में सफल नहीं हो सका। अथवा यूँ कहें कि बात का सिरा पकड़ नहीं सकता था।

मैं उसी दम रूबी के घर गया। वहां वह किसी काम में व्यस्त थीं। नया कालीन बुनने के लिए चढ़ाया गया था और बुनकरों को इसके बुनने की तालीम सिखा रही थीं। उसने मेरी ओर देखा और संकेत से सोफे पर बैठने को कहा।

मैं तो बैठ गया और जब तक वह काम से निपट गयी तब तक मैं बुनकरों का तमाशा देखता रहा।

वह मेरे सामने बैठ गयी। कहा—'यह तो मेरा सौभाग्य है कि आज आप मेरे घर आ गए।'

'आना नहीं चाहता था मगर आने पर मजबूर हो गया'—तुनक कर मेरा उत्तर।

'क्यों? क्या बात है? आप तो मुझ पर नाराज हैं? कारण?'—उसने पूछा।

'अरी कमीनी! यह तुम मेरी पत्नी के बारे में क्या ढ़ोल पीट रही हो?'—उसका गुस्सा।

उसने सुना और होठों पर मुस्कान बिखेर दी। इससे तो मेरा प्रश्न प्रश्न तक ही सीमित रह गया। कहा—'मान लीजिए यह सत्य है। इसके विपरीत यदि यह हरकत किसी और ने की होती तो आप क्या करते?' बताइये?—उसने पूछा।

मैं उसकी ओर आश्चर्य से देखता रहा। कैसी औरत है—उसने आत्म विश्वास के साथ कहा।

'आपको किसने कहा?'—मैंने पूछा।

'आईशा ने'—उसका उत्तर।

यह सुनते ही मैं उसके घर से निकल गया मुझे विश्वास नहीं हो रहा था कि समीना मेरे साथ धोखा कर सकती है। वह तो मुझसे दो दिल एक प्राण बनकर प्रेम करती है। मगर इस समय खोतनद्यदी और नईमा के प्रतिशोध ने हमारे प्रेम के बारीक धागे को काट दिया है।

आईशा पास के एक बैंक में काम करती थीं। वह बला की खूबसूरत थी। इस लिए आफ़िस में वह काम कम और बातें ज्यादा करती थीं।

'तो आपको क्या पड़ी है मेरी पत्नी को बदनाम करने की?'—मेरे स्वर में कड़क थी।

'मैंने ऐसा क्या कहा है जिससे आपकी पत्नी बदनाम हो गयी है।'—उसके स्पष्ट शब्द।

'यही कि बन्बूक बरदार बदमाश उसके साथ उसके ही घर में इश्क फरमा रहे है।'—मैंने तुनक कर कहा।

वह तो किसी की चेक पास कर रही थीं। काम से निपट कर उसने अपना चश्मा उतारा और मेरी ओर देखने लगी—'हां, तो आप क्या कह रहे थे?'

मैंने अपना प्रश्न दोहराया।

'ताज्जुब है। क्या आप यह समझते हैं कि अपनी प्यारी सहेली के बारे में ऐसी गन्दी बातें कहूंगी'—उसने कहा।

'तो क्या खोतनधदी झूठ कहती है?'—मैंने पूछा।

'नहीं, ऐसी बात नहीं। न खोतनद्यदी झूठ कहती हैं न ही मैंने इस तरह की बात कही है। अलबत्ता यह बात जरुर है कि मैंने बात सुनी है और हो सकता है कि मुझसे भी यह बात आगे बढ़ गयी हो।'—उसने सविस्तार कहा।

'वाह! क्या कहने...'—मेरा व्यंग्य।

पर उसने मेरी बात को काटकर कहा—'मैंने खोतनद्यदी से कहा है कि इस किस्से में सच्चाई है नहीं! मैंने झट कहा—'मेरे प्रश्न का यह उत्तर नहीं। कितना अच्छा रहता यदि आप साफ–साफ खुलकर कहती।'

'खुदा की कसम, मुझे कुछ पता नहीं। हां, रमजाना को सब कुछ पता है कि आपकी अनुपस्थिति में समीना के पास कौन आतै हैं।'—उसने बिल्कुल स्पष्ट शब्दों में कहा।

'रमजाना कौन है?'—मैंने पूछा।

'आप जानते नहीं क्या? यह तो इस शहर का मालदार आदमी है।'—उसने कहा।

हां, अब यह बिल्कुल सत्य सा लगता है कि समीना ने मुझसे धोखा किया है। बात तो यहां तक पहुंच गयी है और मुझे पता भी नहीं। जी चाह रहा है कि समीना का गला घोंट दूं। पर मन यह मानने के लिए तैयार नहीं क्योंकि समीना मुझे हद से ज्यादा प्रेम करती है। आज तक मैंने उसको कभी पराये मर्द के साथ नहीं देखा है। फिर भी औरत जात पर कोई विश्वास नहीं। पराया मर्द और समीना...ऐसा क्या हो सकता है?

रमजान साठ–सत्तर वर्षीय बूढ़ा है। बर्फ सी सफेद दाढ़ी है उसकी, और सिर पर कराकुली टोप पहने वह एक शानदार बंगले में रहते हैं। ज्यों ही मैंने उसके कमरे में प्रवेश किया तो वह सोफे पर बैठे सिगार पी रहे थे। मुझे देखकर उसने पास वाले सोफे पर बैठने के लिए कहा। ज्यों ही उसने मेरी ओर सिगार बढ़ाया तो मैंने उसे पूछा—'भई साफ, बता, उसका नाम क्या है?'

'किसका?'—उसने आश्चर्य से पूछा।

'मेरी अनुपस्थिति में मेरी पत्नी के पास जो आता है।'—मैंने पूछा।

यह सुनकर वह डर सा गया किन्तु मुझे गुस्से ने अन्दर से ही खा लिया था।

'मुझे कुछ पता नहीं है यारा'—मगर मैंने भी उसको छोड़ा नहीं। मैंने कहा—'आप झूठ कह रहे हैं। यदि इस संबंध में किसी को पता है तो वह आप ही है।'

उसने कुछ नहीं कहा। मैं भी कुछ पल के लिए चुप हो गया। अंत में मैंने उसको इस तरह समझाया—'देखिए, यदि ऐसी बात आपके साथ हुई होती तो आप क्या करते?'

उसने सिगार का कश खींच कर मेरी ओर ध्यान से देखा। अंत में कहने लगा—'देखिए जमाना खराब हो गया है। जंगजुओं ने हमारी जीभ सिल ली है। सच कहने पर आंतक की चिंगारियां फूट पड़ती हैं। निर्दोष लोगों के लिए जीना दूभर हो गया है। मैं कह नहीं सकता, फिर भी मुझे उसने बताया।'

'किसने?'—मेरा प्रतिवाद।

'मोहम्मद सुल्तान ने।'—उसने कहा।—'यह तो शायद आपका पड़ोसी है। मजदूर है। वैसे तो कई काम करता है। मेरे घर में भी काम करता है।'

पहले मैं घर से निकला था और अंत में घर की ओर ही जाना पड़ा। किन्तु घर में प्रवेश करने से पूर्व मैं मोहम्मद सुल्तान से मिला। यह सत्य है कि मुहम्मद सुल्तान मेरा पड़ोसी है। हर दिन मुझसे मिलता रहता है। किन्तु उसने मुझे क्यों नहीं कहा। उसने बात को इतना तूल क्यों दिया! मुझसे कहने के बजाय उसने इस बात को जलती आग की तरह क्यों भडकाया। मुझे तो इस वक्त तक पता नहीं। जरा मैं इस निक्षर से पूछ लूं, कि यह क्या कहेगा! मैं तो यही सोच रहा था कि मुझे सड़क पर मोहम्मद सुल्तान मिल गया। मैंने उसको देखा और हाथ से संकेत कर अपनी और आने के लिए कहा। वह मेरे पास आया। मैंने उसकी ओर ध्यान से देखा। कहा—'बता, मेरी अनुपस्थिति में समीना के पास कौन जंगजू आते हैं? यदि आपने देखे हैं तो मुझे क्यों नहीं बताया?'—मेरा रोष।

'मुझे क्या पता था कि आपको बताता'—उसका स्पष्ट उत्तर।

'फिर आपको यह सब किसने बताया?'—मैंने पूछा।

'आपकी बीबी समीना ने।'—उसने एकदम कहा।

मैंने सुना और उसके पास से खिसक गया। मेरे कदम डगमगाने लगे। ऐसा लगने लगा कि जमीन पांव के नीचे से सरक रही है। जैसे–तैसे मैं घर पहुंचा और ज्यों ही मैं अपने कमरे की ओर गया, वहां मैंने अपने सोफे पर बीस वर्षीय युवक को देखा। उसकी दाढ़ी निहायत ही लम्बी थीं। दायें हाथ में ए.के 47 राइफल थीं। ऐसा लग रहा था कि वह किसी का इन्तजार कर रहा था। मैंने उस को देखा और थर–थर कांपने लगा। उसने भी मेरी ओर ध्यान से देखा। इतने में समीना ने कमरे में प्रवेश किया।

'बोलो दीदी! लायी हो? चार बजे कर्फ्यू लगेगा। और अंत में यहां ही बन्द हो जाऊंगा।'—उसने एक साथ कहा।

'मगर मैं कहां से लाऊंगी। मुश्किल से पेट पालते हैं हम। आपके लिए एक लाख रुपया कहां से लायेंगे?'—समीना का उत्तर।

'जिस तरह खोतनद्यदी, नईमा, रूबी, रमजान और मोहम्मद शेख ने लाए, उसी तरह आप भी एक लाख रुपए का बन्दोबस्त करें।'—उसके स्पष्ट शब्द।

'ये सभी तो मालदार आदमी हैं। मगर मेरे पास तो फूटी कौड़ी भी नहीं।'—समीना ने कहा।

'तो फिर किसी भी स्थिति का मुकाबला करने के लिए तैयार रहिए।'—उसकी धमकी।

इसके साथ ही उसने फॉयर किया और गोली छत को चीर कर बाहर निकल गया:

मैं कांप गया। मैं उसको देखते ही रह गया।

'इस समय मैं जाता हूं। चार बजे कर्फ्यू लगेगा तो मैं यहीं फंस जाऊंगा। कल मैं यहां फिर आऊंगा। तब तक पैसे तैयार रखना। नहीं तो जान का खतरा है।'—उसके स्पष्ट शब्द।

इतने में वह वहां से चल दिया। समीना मेरी छाती से लग

गयी। मैंने उसे पूछा—'ये कौन हैं?'

'जानते नहीं इसे? ये तो कश्मीर की तथाकथित 'आज़ादी' का संदेशवाहक और मेरा भाई है।'—समीना ने कहा।

'भाई?'—मेरा आश्चर्य।

'हां वहीं मेरा भाई बिलाल, जो आज से छः वर्ष पूर्व गायब हो गया था।'—समीना का उत्तर।

यह सुनते ही मुझे एकदम याद आया। हां, यही तो समीना का भाई है। छः साल पहले घर से गायब हो गया था। उस समय इसके ढूंढ़ने के सारे प्रयत्न विफल रहे। समझने में देर नहीं लगीं। यह तो पाकिस्तान से बन्दूक, बम और ग्रेनेड चलाने का प्रशिक्षण पाकर यहां आ गया हो और वहां के नेताओं के इशारों पर यहां की आम जनता में तथाकथित 'आज़ादी' या 'कश्मीर बनेगा पाकिस्तान' का असफल मिशन लेकर यहाँ आतंक फैला रहा है। आतंक के पेड़ की शाखाएं तो यहां फैल गयी है किन्तु इस पेड़ ने यहां किस तरह जन्म ले लिया? इसके उगाने का आतंक–बीज तो यही है। उस समय मैंने समीना से कह दिया था कि आपका यह सगा भाई आपसे मिलेगा नहीं। न वह आपसे मिलेगा न ही आप इसे मिलना चाहोगी।

मगर वह इस समय समीना से मिलने आया था—बन्दूक का भय दिखाकर भीख मांगने के लिए!

(कादम्बिनी, अगस्त 1994)

❑

सोलह

फड़कती आंख

हां, उसकी आंख फड़कती थी। मैंने उसकी आंखों की ओर ध्यान से देखा। बाहर से तो कुछ नहीं दिखता था, किन्तु इनके अन्दर लाल–लाल डोरे स्पष्ट दिखाई देते थे–मकड़ी के बुने जाल की तरह। मैंने एक बार फिर इनकी ओर देखा, अंत में पूछा–'आप की आंख के अंदर कसक तो नहीं होती?'

'नहीं, सिर्फ आंख फड़कती है।'–उसका उत्तर था।

'दायीं या बायीं?'–मेरा प्रश्न।

'जनाब, बायीं आंख फड़कती है, इसी लिए परेशान हूं। इसको अप–शकुन कहते हैं ना।'–उसने कहा।

मैंने सुना और कहा कुछ नहीं। दायीं हो या बायीं, मुझे उसके साथ कोई सरोकार नहीं। मैं तो केवल आंख फड़कने का कारण जानना चाहता था। मैंने एक बार फिर उसकी आंखों की ओर ध्यान से देखा किंतु वहां कुछ नहीं दिखाई दिया जो पहले दिखता था। मेरी समझ में कुछ नहीं आया कि उसकी इन आंखों को कैसे रोग मुक्त करूं। अंत में मैंने यों ही पूछा–'देर रात गए तक किताबें तो नहीं पढ़ते हो?'

'हां, किताबें पढ़ने का शौक तो मुझे बचपन से है।'–उसका उत्तर।

'कौन–सी किताबें पढ़ते हो?'–मेरा प्रश्न।

'इस समय मैं कश्मीर से संबंधित पुस्तकों का अध्ययन करता हूं–राजतंरगिणी, श्रीकंठ चरित्र, विक्रमादेव चरित्र, लल्य वाक्यं।'–उसने

एक ही सांस में कहा।

यह सुनते ही मैंने उसकी आंख का रोग पहचान लिया। मैंने उसकी आंखें एक बार फिर ध्यान से देखीं। आंख की सफेदी पर पड़ी वही लाल–लाल डोरें। मकड़ी के बुने जाल की तरह। मैंने पूछा–'किताबें पढ़ने के बाद आप स्वप्न तो नहीं देखते?'

मेरा इतना ही कहना था कि उसका चेहरा चमकने लगा। वह एक ही सांस में कहने लगा–'क्यों नहीं, यार? अच्छी सी किताबें पढ़ने का मेरा यही उद्देश्य तो है। इसी लिए रात गए तक मैं इन किताबों को पढ़ता हूं। फिर मीठी नींद सोता हूं। स्वप्नों की दुनिया में खो जाता हूं। स्वप्नों की यह दुनिया मेरे लिए मधुर और हसीन है। मैं देखता हूं कि नन्दन–कानन कश्मीर के लोग तो हर तरह से सुखी हैं। पहले की तरह अब इनका शोषण नहीं हो रहा है। कश्मीर भारत का मुकुट है और यहां रहने वाले लोग इस पर चिपके नग हैं। यदि कहीं स्वर्ग है तो यही है, यही है बस, यही है। दुनिया भर के लोग सैलानी के रूप में यहां आते हैं। कुछ समय के लिए विश्राम करने के बाद जब वे इस भू–स्थली को स्वर्ग से भी सुन्दर देखते हैं तो यह इह–लोक यहीं व्यतीत करना चाहते है। यहां के लोग सुन्दर हैं, इनके रहने का ढंग साधारण है, इनका दूसरों के प्रति व्यवहार भाइयों जैसा है और सबसे बढ़ कर इनके दिल में खोट नहीं है। वे आज भी ऋषि–मुनियों की वाणियों से प्रभावित हैं, उन्हीं की तरह रहते हैं। दुनिया के झंझट–झमेलों से दूर रहना चाहते हैं।'

'इसके आगे तो कुछ नहीं देखते?'–मैंने बात को काट कर कहा।

'जनाब, सच तो यह है कि इसके बाद मेरे दिल की धड़कन तेज हो जाती हैं मैं नींद से एकदम जागता हूं, मानो कोई मुझे जगाता है। इसके बाद आंख फड़कती है।'–वह एक ही सांस में बोला।

उसकी एक बात भी मेरी समझ में नहीं आयी। सिर्फ इतना ही जान पाया कि आंख के साथ–साथ इसके दिल पर भी असर पड़

गया है। इस बीच मैंने उसे एक और प्रश्न किया—'आपके कमरे में तो किसी माननीय नेता का चित्र तो नहीं?'

उसने मेरी ओर देखा मगर बोला कुछ नहीं। इसे मैंने एकदम जाना कि मेरी बात सत्य है। अंत में मेरा अंतिम प्रश्न—'इसके सिवाय आपको कुछ और भी महसूस हो रहा है?'

'बस आंख फड़कती है, इसलिए आपके पास आया हूं।'—उसका छोटा—सा उत्तर।

यह सुनकर मैं असमंजस में पड़ गया। इस समय मुझे इस पर गुस्सा आया कि इसने रोग को चर्म सीमा पर क्यों पहुंचा दिया है। इस रोग ने अब दिल पर भी असर डाला है। इस रोग के मूल अब शरीर को चीर कर इसके महत्वपूर्ण अंग दिल के चारखाने में फैल गए हैं। अब मुझे ये उखाड़ने हैं और रोगी को रोग—मुक्त करना है। वस्तुतः एक डाक्टर की हर समय यही कोशिश रहती है कि वह रोगी को उसकी अंतिम सांस तक बचाने में सफल हो जाए। मैंने पूरी जांच—पड़ताल करने के पश्चात उसको रोग—मुक्त करने के लिए दवाई दी। इसके बाद समझाते हुए कहा—'भई, आपके रोग को दूर करने में दवाई उतनी कारगर या असर कारक नहीं हो सकती जितना कि परहेज। क्योंकि यह एक मानी हुई बात है कि परहेज इलाज से बेहतर रहता है।'

'हां, यह तो मुझे भी पता है।'—उसका उत्तर।

'तो फिर ये किताबें पढ़ना छोड़ दे, यार।'—मैंने कहा—'अपना कीमती समय किताबों के अध्ययन करने या तस्वीरों को देखने में न लगाओ।'

'क्यों?'—उसने मुझे इस तरह पूछा जैसे मैंने कोई गाली बकी हो।

'इसको रचना कहते हैं। इनसे आपके आंखें को 'री—एक्शन' हो रहा है।'—मैंने समझाते हुए कहा।

'आप यह क्या कह रहे हैं, डाक्टर! किताबों के अध्ययन करने से मुझे अंधेरे में उजाला दिखाई देता है।'—उसने एक ही सांस में कहा।

'आप तो मेरी बात को गलत समझते हैं। इसके सिवाय तो इस समय पढ़ने को बहुत कुछ है।'—मेरा छोटा सा उत्तर।

'हां, यही तो मैं जानना चाहता हूं। इस समय यदि मैं पढ़ूं तो क्या ? मेरी सारी उमर तो अध्ययन करने में ही बीती है।'—उसने कहा।

'यह जरूरी नहीं कि आप बड़ी—बड़ी किताबें पढ़ें। पढ़ने को तो बहुत कुछ है। जरा हर दिन अखबारों की सुर्खियां तो देख लें। हां,जब आप ध्यान से सभी अखबार पढ़ोगे, तभी आप की आखें खुल सकती हैं। इस सदी के अंत तक आपकी आंख फड़कने का सवाल ही पैदा नहीं होता।'—मैंने सविस्तार समझाते हुए कहा।

'इसके बाद मैं सुहावने स्वप्न देखूंगा नहीं?'—उसने पूछा।

'नहीं, आप स्वप्न—निंद्रा से जगकर जीवन जीने का असली या वर्तमान रूप देख पाओगे।'—मेरा उत्तर।

मैं समझा नहीं।'—उसका आश्चर्य।

मैंने उसकी ओर ध्यान से देखा। कहा—'इस से आप को इस दुनिया का असली अंधकार दिखाई देगा। इसके बाद आप महसूस करने लगोगे जो मैं स्वप्न में देखता था वह कहां तक इस बदलती हुई दुनिया में सत्य की कसौटी पर सही उतरता है। आपको दुनिया की असली तस्वीर नजर आएगी।'—मैंने एक बार फिर सविस्तार कहा।

'तो इसका मतलब यह है कि अब तक मैं जो कुछ भी देखता था, उसमें वास्तविकता नहीं के बराबर थी।'—उसने पूछा।

'हां, यही तो मैं कहना चाहता हूं। आपकी आंख फड़कने का कारण तो यही है जरा एक पल के लिए सोचिए कि जब आपको दो देशों के बीच युद्ध होने की सम्भावना लगे, दिन—दहाड़े चौराहों पर आतंकवाद का नंगा नाच दिखे, निर्दोष लोगों की मार—काट या उनको अपहरण करने के दुःखद समाचार सुनोगे, भयंकर बम—विस्फोट एवं राकेट चलने की कानों के पर्दे फाड़ने वाली आवाजें सुनोगे और इसी तरह से कितने ही दुःखद घटनाएं होती हुई देखोगे तो आपकी आंखे अपने—आप खुल जाएंगी और फड़कने का नाम तक नहीं लेंगी।'—मैंने

उसको यह सब एक ही सांस में कहा।

उसने मेरी ओर आश्चर्य मिश्रित निगाहों से देखा। कुछ पल बाद मैंने कहा—'फिलहाल आप मेरे इस कहे पर अमल करें। इसके बाद देखा जाएगा कि हवा का रुख किस ओर होगा। मुझे पूरा विश्वास है कि जो मैंने कहा, उस पर अमल करने से आपकी आखें एकदम रोग मुक्त हो जाएंगी।'

'तो फिर क्या इससे मेरी आंख फड़केगी नहीं?'—उसने मुझसे एक बार फिर पूछा।

'नहीं, मैं सत्य कहता हूं। इससे आप की आंख कभी नहीं फड़केगी। वस्तुतः हर एक क्रिया से आंख फड़कती है किंतु इसमें निहित प्रतिक्रिया से आप की आंखें खुल जायेंगी। इनका फड़कना बन्द हो जाएगा।'—मैंने उसको समझाकर कहा।

उसने एक बार फिर मेरी ओर देखा। इसके बाद उसने आंखें मलीं। कमरे से बाहर आकर उसने कुछ नहीं कहा, किंतु मैंने इतना ही सुना—'मेरी आंख फड़कती है।'

(योजना/अगस्त—1993)

❑

सत्रह

विष और अमृत

उस दिन ढलती शाम को मैं कदम गिनता हुआ घर जा रहा था कि एकाएक रास्ते में उसने मुझे रोका। मैंने उसको ध्यान से देखा और अपने चिरपरिचित आंकड़ों को आंखों में समेटकर यह जानने की कोशिश की कि शायद मैं इसको जानता हूं। किंतु ऐसी बात नहीं थी। वह मेरे लिए बिल्कुल एक अपरिचिता थी। फिर भी उसके साथ मेरा इस तरह का अप्रत्याशित सामना जिसने मुझे निर्दयता से खींचकर उसकी ओर आकृष्ट कर दिया। मैंने उसकी ओर एक बार फिर ध्यान से देखा मगर पहचाना नहीं। वह मेरी ओर ऐसी चौकन्नी नजरों से देखने लगी कि जैसे मैं उसका कोई अपना था और वर्षो के बाद यहां मिल गया।

उस समय यह जानना कतई मुश्किल न था कि उसने मुझे देखकर क्या पाया किंतु उसकी नीली—नीली आंखों को देखकर तथा उनके भीतर उमड़ते—घुमड़ते भावों को अच्छी तरह पहचानकर यह जानने में जरा भी देर न लगी कि वह अपने भीतर और बाहर की सारी विसंगतियों से हर पल जूझते हुए भी, अपने को एक ही सतह पर देखकर बिठाये रखने के प्रदर्शन में माहिर रही है। यदि ऐसा न होता तो उसका भीतरी बिखराव कब का बाहर छितरा जाता और वह मुझे देखकर अपने को संयम में न रखकर कुछ भी कर सकती थी, लेकिन ऐसी बात नहीं थी।

वह मेरे पास आ गयी। मैं एक बार फिर उसकी ओर ध्यान से देखने लगा। वह भी मेरी ओर ऐसे ही देखने लगी। फिर आंखों में आंसुओं का वेग रोकने के लिए उसने आंचल का सहारा लिया—

"क्यों? क्या बात है?"—मैंने पूछा।

"तुम कहां....."—उसने इस तरह कहा मानो मुंह में ये वाक्य लकवे के रोगी की तरह निर्जीव हों। मैंने उसकी तरफ देखा और उसकी आंखों की पुतलियां भीगे पक्षी की तरह थरथराने लगीं।

अब की बार मैं उसको देखकर डर गया। समझ में कुछ नहीं आया कि उसको क्या कहूं? कैसे कहूं? इतने में उसनें मेरा हाथ थाम लिया और पास की गली के नुक्कड़ पर बने मकान में ले जाकर वहां एक कमरे में बिठाया। इसके बाद वह मेरे बगल में बैठ गयी। उसकी आंखों में झूलती हुई इस तरह की बेपरवाही देखकर मुझे खुद अपनी ही आंखों में झांकने की जरूरत महसूस हुई। मैं ज्यादा देर तक इस तरह उसके पास बैठने का साहस न कर सका। मैं तो एक ओर मुड़ने वाला ही था कि उसने एक बार फिर प्यार से मेरी बांह पकड़ ली। बहुत आश्चर्य हुआ उसकी इस हरकत पर किंतु, वह मेरी ओर देखकर कहने लगी—"कहां थे तुम अब तक? तीन वर्षो से तुम्हारे ही इंतजार में रही हूं। मंदिरों के इस शहर में, और तुम हो कि नन्दन–कानन कश्मीर की प्राकृतिक छटा का बेफिक्र आनंद रस लूटते रहे। यहां मेरा शरीर जलता रहता है धधकती गरमी से। आपने मुझे यहां क्यों छोड़ा है? मैंने कौन–सी गलती की है? मुझे क्यों नहीं अपने साथ ले चलते? इन तीन वर्षो में दुनिया में कई परिवर्तन आ गये और आप हैं कि मेरे जीवन में कोई परिवर्तन न ला सके। पैंतालीस वर्ष लांघकर भी मेरी गोद सूनी है।"

उसकी उम्र पैंतालीस ही होगी, यह तो उसका चेहरा–मोहरा देखकर भी लगता था। फिर भी अपना स्वास्थ्य और सौंदर्य बनाये रखने में वह सतर्क–सी लगती थी। माथे पर बिंदिया ऐसे चमक रही थी मानो नील गगन पर चंद्रमा! गहने भी जरूरत से ज्यादा पहन रखे थे। फिर भी उसकी बातें सुनकर ऐसा लग रहा था कि वह किसी कारणवश बहुत समय से दुःखी है। उसने मेरी बांह पकड़ कर आवारगी की–सी हालत में एक बार फिर कहा—'उस दिन तुम रोज की तरह सुबह के दस बजे दफ्तर गये। किंतु भाग्य की विडंबना! तुम्हारा बॉस आंतकवादियों की

गोलियों का शिकार होकर अपनी ही कुरसी पर दम तोड़ गया। उसके पद पर आपकी नियुक्ति हुई। तब से आप अपने विभाग के अध्यक्ष पद पर आसीन हैं। वाह! पत्नी यहां इस परदेश में विरहणी का जीवन काट रही है और तुम श्रीनगर में मौजें मना रहे हो।'

मैं उसकी इन बातों को जरा भी समझ नहीं पाया। इसलिए कोई निश्चित उत्तर देने के बजाय मैंने चुप रहना ही उचित समझा। किंतु मेरे कुछ न कहने पर उसकी आंखों से उदासी के भाव स्पष्ट दिखायी देने लगे। मैं असमंजस में पड़ गया। फिर भी मैंने कुछ नहीं कहा। उसने मेरी ओर झांककर देखा। बोली—'मैं समझ गयी कि तुमको श्रीनगर वापस जाना है। मगर यहां कहां ठहरे हो? कैंप में...नहीं, किसी मित्र के घर पर...नहीं, किसी किराये के मकान में....वह भी तो नहीं। तो फिर कहां ठहरे हैं, मुझे भी तो बताओ। और वापस कब जाना है?'

मैं मूक–सा बैठा, उसकी इन बातों को सुन रहा था। गोरखधंधा धीरे–धीरे जटिल होता जा रहा था। मैं हर पल इस परिस्थिति से मुक्ति पाने की कोशिश में था किंतु ऐसी कोई संभावना नहीं दिखती थी। इस बीच वह एक बार फिर बोली,—'मुझे पता है कि अब आपको श्रीनगर जाना है, किंतु यदि जाना ही है, तो कब जाना है?'

'कल'—इस समय मेरे मुंह से एकदम निकल गया। किंतु बाद में सोचा कि मैंने उसको यह क्यों कह दिया। असली बात की तह तक जाने से पूर्व मुझे यह नहीं कहना चाहिए था। मैं बहुत पछताया। इतने में वहां एक बुड्ढ़ा आया। उसको देखते ही वह उठी और कमरे के बाहर आयी। मैंने बुड्ढ़े को नमस्ते की। इसके बाद बिना जूते पहने कमरे से बाहर आकर चैन की सांस ली।

दूसरे दिन प्रातः जब मैं अपने ड्राइंग–रूम में नाश्ता कर रहा था, तो किसी ने दरवाजे पर दस्तक दी। आवाज़ आयी—'क्या मैं अंदर आ सकता हूं?'

'आइए'—मैंने कहा।

दूसरे ही क्षण कल वाला बुड्ढ़ा मेरे सामने आ खड़ा हुआ।

कल तो मैंने उसे बिल्कुल सरसरी तौर पर देखा था। किंतु इस समय उसका चेहरा–मोहरा देखकर ऐसा लगा था कि वह इस बुढ़ापे में कोई अनजाना दुःख सह रहा है। वह एक लंबी सांस लेकर मेरे पासवाले सोफे पर बैठ गया। मैं उसकी ओर ध्यान से देखता रहा। वह सिर झुकाये जाने क्या सोचने लगा। फिर मौन को तोड़ता हुआ बोला–'मैं अच्छी तरह जानता हूं कि मेरी बेटी आपको गलत समझ रही है। हां, जिस मकान में कल मैंने आपको देखा, वही मेरा घर है और यही उसका मायका। इस समय उसने मुझे यहां जबरदस्ती भेजा है। आपको देखकर उसको यह विश्वास हो गया है कि आप उसके पति.....।'

यह सुनकर मेरे नीचे की जमीन सरक गयी। सारा शरीर पसीने से तर हो गया। माफी मांगने की स्थिति में मैंने उसे कहा–'दरअसल इसमें मेरा कोई दोष नहीं। रास्ते में उन्होंने मुझे रोका और बांह पकड़कर वहां ले गयीं। उनकी हालत को देखते हुए मैं यह नहीं कह सका कि मैं उनका पति नहीं हूं। मैं इसके लिए शर्मिंदा हूं।'

'इसमें किसी का दोष नहीं। दरअसल, इसी को भाग्य की विडंबना कहते हैं। उसके पति के चेहरे के साथ आपका चेहरा बहुत मिलता है। कल आपको देखकर मुझे भी ऐसा लगा कि सच ही आप उसके पति हैं। किंतु उसका पति....'–बूढे ने कहा और इसके साथ ही अगला वाक्य उसके गले में अटक गया। वह कुछ बोल नहीं पाया।

इस बीच मैंने चाय बना ली और उसकी ओर एक कप बढ़ाया। प्याला होंठों की ओर ले जाकर वह बोला–'मुझे बहुत खुशी है कि कल मैंने तीन वर्ष के बाद आपके साथ अपनी बेटी को पहली बार खुश देखा। आपको देखकर उसको ऐसा महसूस हो रहा है कि भरी जवानी में वह जो चीज खो बैठी है, वह उसे अब पुनः प्राप्त कर रही है। मैं उसको नहीं कह सकता कि यह उसकी निरपराध भूल है। सोचता हूं यदि इसी बहाने वह जीवन के शेष भाग को आंनद से जी सके तो कौन–सी आपत्ति!'

इन बातों को सुनकर मैं उसकी ओर देखता ही रह गया। इतने में वह फिर बोला–'सुनिए, आप उम्र में मेरे बेटे के बराबर हैं, किंतु घर

में आपका परिचय मेरी बेटी के पति.....। और मैं आपसे यही चाहता भी हूं। छोटी उम्र में ही मेरी बेटी विरह के जहर के घूंट पीती आयी है, किंतु अब आपको देखकर यह जहर मिलन के अमृत में बदल जाएगा।'

एक तरफ उसके कातर शब्द तथा दूसरी ओर मेरा उसकी बेटी का नया पति घोषित होना–समझ में कुछ नहीं आ रहा था। इतने में वह फिर बोला–'हां, आपने उसको कहा था कि मैं कल जा रहा हूं। वह आपको बस–अड्डे पर विदा करने आ रही है। उसका दिमाग खराब है ना! बावली है। उसका मन बहलाने के लिए आप इसी दम यहां से निकलकर उसको बस–अड्डे पर मिलिए। शायद, वह आपको विदा करने के लिए वहां पहुंच गयी होगी।'

यह सुनकर मैं असमंजस में पड़ गया। इस वक्त बहुत गुस्सा आया इस बूढ़े पर किंतु उसका दिल दुखाना नहीं चाहता था। फिर भी मैं इस वक्त कुछ कहने पर मजबूर–सा हो गया,–'पिता जी मेरे तो बाल–बच्चे हैं। पत्नी अभी पैंतीस की लांघ चुकी है। कहां है आपकी बेटी का पति? भले ही उसने दूसरी शादी की हो, मुझे विश्वास है कि मैं उसको यहां लाने में सफल हो जाऊंगा।'

मेरा इतना ही कहना था कि वह मेरी ओर देखने लगा। अब तक मैं यह कल्पना भी नहीं कर सकता था कि मनुष्य की आंखें कभी स्थिर और निर्जीव भी हो सकती हैं। उस समय उसकी आंखों को देखकर मुझे ऐसा लगा कि एकाएक इनमें कांच के टुकड़े भर दिये गये हो। उसका सारा शरीर थरथराने लगा। उस समय मुश्किल से उसने अपना हाथ कोट की जेब में डालकर अखबार के कागज की एक कतरन निकाली और मुझे दे दी। मैंने इसे पढ़ा। फरवरी सन् 1990 में हुई कश्मीर में आंतक की घटना है–'श्रीनगर के लाल चौक में दिन दहाड़े आंतकवादियों ने अल्पसंख्यकों से संबंधित कई युवकों को एक–साथ गोलियों से छलनी कर दिया। शव गटर के पास आठ घंटे तक पड़े रहे। इनको किसी ने छुआ तक नहीं। बाद में शिनाख्त करने पर पता चला कि मृतकों में से महान देशभक्त सुरेंद्र भी था। उसका दोष यही था कि वह देश–भक्त

था और राष्ट्र की अखंडता का रक्षक। रात के अंधकार में जब उसका शव घर लाया गया, तब इसको देखकर पत्नी बेहोश हो गंयी। होश आने पर वह पागलों की तरह बातें करने लगी...।'

पढ़ने पर वस्तु–स्थिति सामने आयी। मुझे लगा कि निष्ठुर सृष्टि के ये दो निःसंग अभिशप्त मानव पुतले तड़पन की आग में झुलसे घायल होकर चीत्कार कर रहे हैं।

(कादम्बिनी–सितम्बर–1993)

❑

अठारह

'कंप्यूटर'

हां, मैं वही हूं। कंप्यूटर। दुनिया की लगभग सभी भाषाओं में मुझे इसी नाम से जाना जाता हैं। मगर इतना होने पर भी मैं हूं एक यन्त्र। एक सूक्ष्म यन्त्र–प्रणाली। बीसवीं सदी का एक चमत्कारी आविष्कार। मानव का एक विश्वसनीय साथी। आकार में उतना ही जितना मेरा काम हो। इसीलिए आपने अपने सभी अधिकार मुझे सौंप दिए हैं क्योंकि आपको मेरी कार्य–प्रणाली पर हद से ज्यादा विश्वास हो गया है। आपका वह कौन सा काम है जो मैं अपने कार्य–यन्त्रों से सम्पन्न नहीं होने देता। भूख लगने पर बटन दबाते ही भोजन से सजे थाल को लेकर आपके सामने प्रस्तुत होता हूं। प्यास लगते ही पानी का गिलास टेबुल पर रख देता हूं। बड़े–बड़े चौराहों पर भीड़ को नियन्त्रण में रखने के लिए दिशा निर्देश का काम करता हूं। इतना ही नहीं, मैं कार चलाता हूं। बड़े–बड़े कल–कारखानों में मुझ से सूक्ष्म एवं ज्यादा से ज्यादा मजदूरों का काम करवाया जाता है। और हां, गणित के जिस प्रश्न को आप कई वर्षो से बुद्धि लगाकर हल नहीं कर सकते, उसका हल मैं तत्काल चुटकियों में निकाल सकता हूं। यहां तक कि आपके सोच–विचार की तंद्रा को तोड़कर मैं अपने मन–पसंद का काम करने की पूरी स्थिति में हूं।

आपने मुझे अपना सब कुछ दिया, सोच–विचार मानवीय श्रम, विश्वास, सब कुछ! इसके बदले में मैंने आपकी सेवा करने में किसी तरह की भूल–चूक नहीं की। आपके आदेशों का पालन करना मैं अपना

सर्वोपरि काम मानता हूं, क्योंकि आपने ही मुझे महत्वपूर्ण पदों पर आसीन किया है। मुझे सौंपे गये कार्यों से निवृत होकर शायद आपकी इनसे भी बड़ी कार्यो को पूरा करने की योजना हो–इस सम्बन्ध में कुछ नहीं कह सकता। लेकिन आज तक ऐसी कोई बात दिखाई नहीं देती। फिलहाल तो मुझे लगता है कि आप हैं कि बैठे हैं। व्यर्थ समय नष्ट करते हैं। करेगे भी तो क्या। आपके पास करने को कुछ नहीं है और यदि करने को कुछ काम मिल भी जाए तो इसको करने से पूर्व 'इण्टरव्यू' में पास होना एक जरूरी शर्त है। पहले लिखित परीक्षा ली जाएगी, इसके बाद इण्टरव्यू यहां भी मेरे ही कार्य–यन्त्रों से काम शुरू हो जाएगा और मैं चुटकियों में फैसला लेता हूं कि कौन यह काम करने के सक्षम है। इसके बाद में अपने–आपसे सोचता हूँ कि शरीर में जो बारीक किंतु महत्वपूर्ण मस्तिष्क रूपी कंप्यूटर लगा है, उसको मैं बार–बार चुनौती क्यों देता हूं। हो सकता है कि उसके क्रिया–कलाप मुझसे सही हो। आखिर मेरा अस्तित्व तो उसी से हुआ है। उसी ने तो मुझे बनाया है। लेकिन तुर्रा तो यह कि आप मेरे ही फैसले को मानते हैं। लगता है कि आपके शरीर में लगे अपने इस कंप्यूटर पर आपका विश्वास ही नहीं रह गया है। यह देखकर तो मुझे आश्चर्य होता है। अपने–आपसे कहता हूं कि कैसी है यह दुनिया और कैसी है यह बदलते जमाने की बदलती हवा। आज–कल तो अविश्वास की आंधी में हर कोई जकड़ कर फंस गया है। आप लोगों में इस चक्रावात ने काफी हद तक जोर पकड़ लिया है और कभी ऐसा भी देखने में आता है कि कजरारी घटाओं से साफ पानी भी बरसने लगता है। यही वह स्थिति है जब आपका मन अस्थिर हो जाता है जिसके फलस्वरूप आपकी सोच दूसरी ओर डगमगाने लगती है। इस समय यही देखने में आता है कि आप बंट गए हैं––वर्गो में, गुटों में और जातियों में। चलो आप इस तरह बंट गए तो क्या हुआ? यह तो मात्र किसी के सोच पर निर्भर करता है कि वह अपने को क्या समझे। लेकिन दुर्भाग्य यह है कि आप वर्ग गुट या जाति के नाम पर एक–दूसरे के सिर काटने लगे हैं और यहां तक कि खून के प्यासे बन

गए है। इस सृष्टि का अस्तित्व मिटाने के लिए तत्पर हो गए है। आपने आतंकवाद, अलगाववाद, जातिवाद, पृथकतावाद और न जाने किन–किन वादों को जन्म दिया है जिससे यह सृष्टि कांप उठी है। इस धरती मां के लाल तो आप हैं और वह आपको एकता भावना के रंगारंग फूलों के बने गुलदस्ते में देखना चाहती है। किंतु आप हैं कि बिखराव की कसौटी पर चढ़ गए हैं। इसमें आपका क्या दोष। दोष यदि है तो मेरा। मैं तो आपका जीवन सुखद और आनन्दमय बनाने की कोशिश करता रहा हूं और मुझे लगता है कि प्रतिक्रिया स्वरूप आपके शरीर का कंप्यूटर इन्ही विनाशकारी कार्यो में लगने लगा है। अब मुझसे ऐसा सहा नहीं जा सकता। मुझे चाहत थी कि आपका अपना कंप्यूटर जन–हित के किसी अन्य कार्य में लग जाएगा लेकिन नहीं, ऐसा तो नहीं लगता इसमें सन्देह नहीं इस समय मैं शक्ति सम्पन्न हूं। हर काम आशानुसार करने की स्थिति में हूं, किंतु सोचता हूं कि यदि आपके कंप्यूटर की बुद्धि अचानक मुझ में प्रवेश कर जाएगी तो कल्पना कीजिए उस समय क्या हो जाएगा। शायद मैं आपकी ही तरह बुद्धि–भ्रष्ट हो जाऊंगा। मुझ में असली शक्ति का आभास हो जाएगा और मैं अपने अन्वेषकों के विरूद्ध विद्रोह करना शुरू कर दूंगा। उस समय मैं आपके आदेशों के पालन करने की स्थिति में नहीं रहूंगा। मैं तो उल्टे काम करूंगा। आप भोजन के लिए बटन दबाओगे तो मैं आपके समक्ष दुनिया भर के भोजन किए हुए आदमियों के आंकड़े रख दूंगा आप पानी का गिलास पीना चाहोगे तो मैं दुनिया भर में बहने वाले गन्दें नालों का विवरण प्रस्तुत करूंगा आप संगीत सुनना चाहेंगे तो मैं युद्धों से संतृप्त लोगों की गाथा सुनाऊंगा। यह भी हो सकता है कि आप गैस के चूल्हे का बटन दबाइएगा तो मैं अणुबम छोड़कर इस सृष्टि का विनाश करूंगा। देखते ही देखते दुनिया के मानचित्र से देश के देश चुटकियों में गायब होने लगेंगे और शायद वहीं से इस दुनिया का अंत भी हो जाएगा।

लेकिन नहीं, मैं ऐसा नही होने दूंगा मैं कर्तव्य–निष्ठा से काम करता रहूंगा क्योंकि आपने मुझमें सेवाभाव कूट–कूटकर भर दिया है।

फिर भी मैं कहे देता हूं कि आप मुझपर इतना विश्वास न करें। हद से ज्यादा विश्वास करने की प्रतिक्रिया तो विश्वास–घात ही होता है और मुझे आशा है कि अपने मानवीय श्रम पर अविश्वास के रूके हुए झरने की धारा अंत में बहती जाएगी।

(कश्यप–समाचार/जनवरी–1993)

❑

उन्नीस

सीमा

जब कभी मैं किसी विषय पर सोचता हूँ तो न जाने, मेरा अन्तर्मन झकझोर कर क्यों रह जाता है। मेरी विचारश्रृंखला, पल–पल में बनती–बिगड़ती के चक्र–व्यूह में, अपना रंग–रुप ले लेती है। मन ड़ांवाड़ोल सा होने लगता है। ऐसा महसूस होता है कि कजरारी घटाओं से सारा आकाश घिर कर रह गया है किन्तु इसी के साथ मुझे इसकी नीलिमा का आभास भी होता है। दरअसल बात तो कुछ भी नहीं है। यह तो मात्र समझने का फेर है। क्या सोचने–समझने की कोई सीमा होती है? हां सीमा! हद! लिमिट! हां, सीमा से आगे तो कुछ भी नहीं है। यदि कुछ है तो वह है अन्धकार,नैराश्य और इससे आगे तो कुछ भी नहीं। कभी–कभी मैं इसके आगे की दुनिया खोज निकालने का भरसक प्रयत्न करता हूँ। किन्तु नहीं, इससे आगे तो कुछ भी नहीं है, सिवाय उस दुनिया के जो सिर्फ मधुर कल्पना करने से ही किसी की आखों के सामने आंख मिचोली करता है। क्या कल्पना करने की भी अपनी सीमा होती है ? हां क्यों नहीं। इसकी सीमाओं से आगे जाना मानों कल्पना लोक में बेकार विचरण करने के बराबर है। किन्तु सत्य के सोच का ताना–बाना तो कल्पना से ही बुना जा सकता है। मगर उसकी भी अपनी सीमा होती है। मनुष्य जब कल्पना के शीशे से देखने लगता है तो इसमें उसको सीमा के बन्धन की प्रतिछाया साफ दिखती है। दरअसल सीमा के बिना यह धरती समतल नहीं रह सकती। और इस पर रहने वाले असंख्य लोग मानवता की माया में एक दूसरे से

जकड़कर रहें तो इसके बिना मानव मूल्यों का एकदम बिखराव होता है। यह एक ऐसा सत्य है जिसको नकारने की कोई गुंजाइश नहीं। मैं भी प्रायः इसी सोच के बियाबान में भटक कर रह गया। अंत में इससे मुक्ति पाने के लिए मैं कुछ पल के लिए कमरे में टहलने लगा,तत्पश्चात् खिड़की को खोलकर बाहर देखने लगा। हां,वहां से छोटी संकरी गली साफ दिखाई दे रही थी। इसके नुक्कड़ पर ठेले वालों की खासी भीड़ थी। मेरी नजर एक दम एक भिखारी पर पड़ी। वह धीरे–धीरे एक छापड़ी वाले के पास बैठ गया जो सेब बेच रहा था। छापड़ी वाले की आंख बचा कर वह एक डिब्बे में से कुछ सेबों को निकालने लगा जो सड़ कर दागदार हो गये थे। वह चट से इनको खाने लगा। मैं मूक सा उसको देखने लगा। फिर अपने आप से कहने लगा कि कितना भूखा है यह बेचारा। शायद क़ई दिनों से खाना नहीं खाया है इसने किन्तु इतना भूखा! यह क्या मैं आज देख रहा हूं। दरअसल भूख की भी अपनी सीमा होती है। भूख की सीमा को पार कर मनुष्य चोरी करने पर विवश हो जाता है। मैं तो यही सोच रहा था कि सेंब वाले की इस भिखारी पर नजर पड़ी। वह झट उठ गया और उसको मार मार कर भुरकस निकाल दिया। भिखारी ऐसे चिल्लाया कि सब उसकी ओर देखते रहे। यह देख कर मुझे गुस्सा आया इस सेब वाले पर।कितना निर्दयी है यह। भिखारी भूखा है और गले–सड़े एवं दागदार सेबों से पेट भरता है। क्या करेगा वह इन गले सड़े एवं दागदार सेबों को। वह तो इनको बेच भी नहीं सकेगा। क्या कोई इनको खरीद कर खा लेगा। मैंने कुछ नहीं कहा और अन्दर का गुस्सा अन्दर ही पीने की कोशिश की। इस बीच मैंने भिखारी की तरफ एक बार फिर देखा जो चुपचाप आंखों में उदासी के आंसू पिरोए शायद ऊपर वाले से पूछ रहा था कि एक इन्सान के मरने की सीमा कहां तक सीमित है। उसकी इस समय की दशा देखी नहीं जा सकती थी। उसको देख कर मेरी आंखों से आंसू बह निकले और मुझसे न रहा गया। मैंने झट वहीं से आवाज मारकर सेब वाले से कहा–'यार,यह क्या कर रहे हो तुम?'

'कुछ नहीं जनाब, इस हरामी को सेब खाने से रोक रहा हूँ।'–सेब वाले का उत्तर।

'क्यों?'–मैने झट से पूंछा।

'यह तो हर दिन ऐसे ही आता है ओर बिना पूछे सेबों को चट कर जाता है।'–उसका उत्तर

'ठीक है। किन्तु देखते नहीं, यह कितना भूखा है ?' मैंने कहा।

'भूखा है तो यह मेरा दोष नहीं।'–उसने गुस्से में कहा। मैंने उसकी और एक बार फिर घ्यान से देखा। मुझसे न रहा गया। मैंने झट कहा–'क्या इन्सानियत की कोई सीमा नहीं ?

सेब वाले ने मेरी तरफ देखा। मैंने भी उसकी ओर देख लिया। वह अपने स्थान से उठकर कहने लगा 'भाई साहब! मैं तो ये गले–सड़े सेब गाय–गधों के चारे के लिए इस्तेमाल करता हूं। असली चारा तो मंहगा हो गया है न आज कल। इसलिए यह सुनकर मैं अन्दर से ही भड़क उठा, पर इस स्थिति में कुछ नहीं कर सकता था। मैने सोचा इस समय सेब वाला मुझसे कुछ कह रहा है कि इन्सानियत की सीमा है और साथ ही यह प्रश्न भी करता कि यदि तुम मेरी स्थान पर होते तो क्या करते। क्या मेरी इस मजबूरी का हल आपके पास है। इतने में वह तुनक कर बोला–'भाई साब ! मुझसे गलती हो गयी। इन्सान गलतियों का पुतला है न! आखिर गलती की भी अपनी कोई सीमा होती है। मैंने उसकी इस बात का कोई उत्तर नहीं दिया क्योंकि मेरा ध्यान पल में ही दूसरी तरफ भटक गया। मैंने उसी सेब वाले के सामने सुन्दरता से नहाया हुआ एक चेहरा खड़ा पाया मैं उसको देख कर चौंक सा गया। मुझे ऐसा लगा कि घने बादलों के बीच बिजली चमक रही है। उसका रंग रूप चेहरे पर निखार तथा भरा–भरा देह देख कर मेरी आंखे चुधिंया गयीं। इसके बाद मैं अपने आप से पूछने लगा कि क्या सुन्दरता की कोई सीमा होती है? नहीं, यह असीम है। सुन्दरता को सीमित नजरों से देखना–परखना अपने आपको धोखा देने के बराबर है। सुन्दरता का आनंद–रस लूटने के लिए जादुई आंखे होनी चाहिए। मैं तो यही सोच

रहा था कि वह उस रास्ते की ओर बढ़ गयी जहां से मुझे एक ओर हरी साड़ी में लिपटी शंकराचार्य पहाड़ी तथा दूसरी और हारी–पर्वत दिखाई दिया। इन्हीं के मध्य भारत का एक प्राचीन नगर श्रीनगर बसा है। सुन्दर और भव्य। इसका नाम सुनते ही देश विदेश के पर्यटक इसकी प्राकृतिक छटा का आनंद–रस लूटने के लिए यहां आते हैं। इसका मुख्य आकर्षण डल–झील में नौकायन करना है, यहां के हाऊस–बोट में विश्राम करना है। कश्मीर की नवयौवना तो श्रीनगर है। किन्तु हाय! इसके सुन्दर मुखड़े पर अब असंख्य कालेदाग पड़ गए हैं। अब इस नवयौवना का मुखड़ा देखते ही सब निराश हो जाते हैं। इस समय इसके वक्ष स्थल में दिल जरुर धड़कता है किन्तु उसी के अनुपात से इसकी रगों में खून का दौरा नहीं होता। इसके अधिकांश क्षेत्र अब जल–मल के ढ़ेर में बदल गये हैं। यही कारण है कि अब यहां का सुन्दर डल झील अब सिमटने लगा है और वातावरण–प्रदूषण के इतिहास में इसने अपना नाम लिखवा दिया है। तो भी सैलानियों को यह कुरुप नहीं लगता किन्तु हम हैं कि इसकी कुरुपता की सीमा को निश्चित करते हैं। क्या कुरूपता की भी अपनी एक सीमा होती है। हां, इसकी भी अपनी सीमा है किन्तु उस सीमा का हमने क्या सोचा जो इस समय यहां के कुछ गुमराह युवकों के दिलों में अस्थायी तौर पर, अपने असीम विस्तार के रुप में आकीं जाती है, जिसके फलस्वरुप इन्होंने संपूर्ण घाटी में तथा कथित 'आजादी' का नारा बुलंद करके, इसका सीमांकन करने की सोची है। ये तो दिन दहाड़े बम विस्फोट करते हैं, बैंकों को लूटते हैं, निर्दोष लोगों को गोलियों से छलनी करते हैं, धर्म के नाम पर सबों को लूटते हैं और अपने झूठे प्रचार से अलगावाद की दुर्गध को चारों दिशाओं में फैलाने की कोशिश करते हैं। यहां के हिन्दू व मुसलमानों के बीच यह नफरत की सीमा निश्चित करने की कोशिश करते हैं जबकि इन दोनों धर्मो के लोग सदियों से एक साथ रह कर सारे देश में धर्म–निरपेक्षता का शंखनाद बजाते आए हैं। इन्होंने ही इन्सान को इन्सान से धर्म के नाम पर नफरत न करने की सीमा को पहली बार छुआ है। क्या धर्म–निरपेक्षता की सीमाओं

को उस पार भी लोगों को जोड़ने की कोई सीमा निश्चित है? यदि ऐसी कोई सीमा है तो उस तक पहुंचने के लिए कब तक समय की घड़ियों को गिनना पड़ेगा? क्या समय की इन घड़ियों की कोई सीमा नहीं है? हाँ, वही, सीमा।

ओह! यह मुझे आज क्या हो गया। आज मेरी विचार–श्रृंखला सीमाओं के आर–पार क्यों भटकती है? कहीं मैं इसमें बहक न जाऊं! नहीं, मुझे इस तरह सोचना नहीं चाहिए। प्रत्यक्ष और परोक्ष में उलझकर मानव–मन प्रायः भटकता ही रहता है। प्रत्यक्ष क्या और परोक्ष क्या यह सब किसी के सोच पर निर्भर करता है। वस्तुतः इसकी भी अपनी सीमा होती है। इस सीमा का यदि उल्लंघन किया जाए तो मानव अपने को संयम में नहीं रख सकता। यही सीमा है। हां, सीमा!

(रविवारसीय 14 सितम्बर 1990)

❑

बीस

टूरिस्ट

डल–झील! कितना सुन्दर, मनमोहक! साफ–सुथरे पानी से भरपूर! इसके चारों ओर नजर डालिए तो बर्फ से ढकी पहाड़ियों की चोटियां नजर आऐंगी–आसमान से छूती हुई, चम–चम चमकती हुई। इसी पहाड़ी की तलहटी पर बनी है एक लम्बी सड़क–वुलिवा रोड़! सांप की तरह बल खाती हुई, काली–पथरीली! और इसके आसपास जरा ध्यान से देखिए तो एक मंजिला कश्तियां दूर–दूर तक फैली हुई दिखेंगी––रंगा–रंग! एक से बढ़कर एक। तीन या चार कमरों वाली। ऊपर से खुली छत। यही कश्तियां सारी दुनिया में हाउस–बोट कहलाती हैं। जूलियट, बटर फ्लाई, डेफोडिल्स–इन्हीं नामों से तो सब इन्हें जानते हैं और इनमें से कई एक ऐसी भी हैं जिन पर 'टुलेट' या खाली का बोर्ड लगा है। चिरकाल से यहां एक अलग संसार बसा है–हांजियों का। यह संसार झंझट–झमेलों से कोसों दूर रहा है और इसके प्राणी निहायत ही सादगी पसंद हैं। ये आत्मविश्वास का दामन कभी नहीं छोड़ते और अपने खून पसीने की थोड़ी–सी कमाई पर संतोष करते हैं। किंतु जब से इस हाउस–बोट का आविष्कार हुआ है तब से झील के इस संसार में विश्व के कोने–कोने से लोग बसने के लिए आते हैं–अस्थायी तौर पर कुछ दिनों या महीनों के लिए। झील का प्राकृतिक आनन्द लूटने के लिए, छोटी–छोटी कश्तियों में झील का सैर–सपाटा करने, बर्फ राईडिंग या इसके साफ–शफाफ पानी में एक लम्बी तैर लगाने के लिए, तरह–तरह की मछलियों को पकड़ने या रंगा–रंग पक्षियों का शिकार

करने के लिए! यहां पर मौजूद सब्जी के द्वीप–समूह देखने के लिए या झील में बसने वाले हांजियों के रहन–सहन का अध्ययन करने के लिए! कई प्रकार के आकर्षण हैं यहां। किसी तरह की उकताहट महसूस नहीं होती। फिर भी यदि पत्नी साथ हो तो कितना अच्छा लगता है। मन में शान्ति और तन में स्फूर्ति का संचार सा होने लगता है। दिल चाहता है कि सारा जीवन यहीं विश्राम किया जाए। किन्तु उसके बिना तन और मन दोनों..... एक अजीब प्रकार का अजनबीपन सा महसूस होने लगता है। एक अजनबी संसार में अजनबी प्राणी। नहीं, यहां का यह संसार अजनबी नहीं। अजनबी मैं था। था क्या, हूं।

"मुझे बचा ले, अरे..."

एक महिला स्वर एकाएक सुनाई दिया–दबा–भिंचा सा। इसके बाद चुप्पी। उस समय शाम हो रही थी। पक्षी पंखों की परवाज लगा कर, चोंच से चीख जैसी ध्वनि निकाल कर अपने–अपने घोंसलों की ओर जा रहे थे और दूर से नेहरू पार्क में झिल–मिल करते बल्ब जैसे सैलानियों को अपनी ओर खींच लाने का आह्वान करते थे। अपनी छोटी सी कश्ती में बैठा, चप्पू चलाता हुआ बड़े मजे में, सब्जी के एक द्वीप–समूह से गुजर कर, डल–झील के इस छोटे से संसार के इस विशेष आकर्षण की ओर बढ़ा जा रहा था कि मैं एकाएक रूक सा गया। ऐसा लगा कि महिला मुझे बुला रही हैं। लेकिन कहां है वह? आसपास कहीं न हाउस–बोट है। न ही कहीं डोंगा या नाव। केवल छोटी–छोटी कश्तियां पार्क की ओर जा रही हैं। यह कहीं दूर की आवाज भी हो सकती है। शायद! कुछ कहा नहीं जा सकता। किसी भूत–प्रेत की आवाज तो न थी।

पिछले कई दिनों से मैंने चाहा कि इस छोटी–सी कश्ती में बैठ कर इसको स्वयं चलाऊँ–एक तैरती हुई मछली की तरह। पंख फड़फड़ाती हुई। स्वस्थ और तैरती हुई। कश्मीर–यात्रा का मेरा यही अन्तिम प्रोग्राम था यहां के शेष सभी दर्शनीय स्थान मैंने चाव एवं उल्लास से देखे। सभी का आनन्द रस लूट कर खुशी हुई और कई बार इनको

देखने के लिए दिल मचला। ऐसा लगा कि ये सब भारत–मुकुट पर चिपके नग हैं––हजारों साल से। और अब इनके आसपास मैल की एक ठोस परत जम गई है–यहां के बसने वाले लोगों की गरीबी की। कई प्रकार के लोग रहते हैं यहां। हिन्दू, मुसलमान, सिख, ईसाई, बौद्ध।

सब मजूरी–मशक्त करते हैं। सादगी–पसंदगी से जीते हैं। लगभग कच्चे एवं खपरैलवाले मकानों में रह रहे हैं और जहां–तहां यह अपने घर बसाए हैं, हम उनको दर्शनीय स्थान कहते हैं क्योंकि वहां पहाड़ हैं, उछलते–बहते झरने हैं, हरे भरे घास के मैदान हैं, तरह–तरह के फलदार पेड़ हैं, साफ हवा है और सब कुछ। इनसे पूछिए तो कहेंगे यहां कुछ भी नहीं है। यहां के लोग निहायत गरीबी में रह रहे हैं। जाड़े के छः मास ठिठुरती सर्दी में बिता रहे हैं। यही हैं वे पहाड़ जिससे हम देश से कट कर रहते हैं और यही हैं वे उछलते–बहते झरने जिनका पानी पीने में स्वादिष्ट तो है लेकिन पीने योग्य नहीं। रोगों का आमन्त्रण तो इसी से...

"मुझे बचाइए न। अरे..."

फिर वही महिला स्वर मेरे कानों में गूंज गया। किन्तु इस बार यह दबा–भिंचा सा नहीं था बल्कि यह एक जोरदार आवाज लग रही थी।

हां, मेरे हाथों से दोनों चप्पू इसी एक आवाज से एक दम रूक गए। मैं सोच भी नहीं सकता था, यह क्या है? सपना है या वास्तविकता पहले भी मुझे ऐसा ही लगा किंतु मैंने इसकी ओर कोई खास ध्यान नहीं दिया था। लेकिन अचानक डल–झील के चारों ओर बिजली के बल्बों का झिलमिल होने से मुझे अहसास हो गया कि अब पूरी तरह अन्धेरा हो गया है और उस आवाज ने दृश्य के साथ मन में भी अपनी एक सूरत गढ़ ली। कल्पित!

"कौन है?"

मैंने कहा और फिर आसपास सब ओर देखा। सच मानिए, सब्जी के एक द्वीप–समूह के सिवाए कुछ नहीं दिख पाया। झट चप्पू

चला कर उसकी ओर बढ़ने लगा। किंतु वहां भुतहा अंधेरा देख कर डर गया। सोचने लगा वहां जाने से क्या लाभ। लेकिन नहीं, मुझे वहां जाना चाहिए। शायद यह आवाज वहीं से आकर मेरे कानों से टकरा रही है।.....

डल–झील में तैरते हुए सब्जी के कई द्वीप हैं और उनमें से यही एक द्वीप है–बाकी सारे द्वीप समूह से कट कर। एक सिरे से दूसरे सिरे तक इसमें कई प्रकार की सब्जियां लगी हुई हैं। अगस्त–सितंबर में तो यहां हर प्रकार की सब्जी लगी रहती है–हरी–भरी, ताजा, इसके पास ही घास का एक छोटा–सा द्वीप दिखता है। इसी घास को सुखा कर बाद में चटाइयां बनाई जाती हैं। हाउस–बोट में कुछ दिनों के लिए विश्राम करने के दौरान मेरे लिए यह द्वीप नया नहीं रह गया था। मैं अक्सर अपनी नाव के चप्पू चलाता हुआ इसी द्वीप से गुजर कर नेहरू पार्क जाता और रात के दस ग्यारह बजे बाद इसी रास्ते से अपने हाउस बोट की ओर लौट आता। कोई डर नहीं लगता था मुझे। लेकिन आज मैं सहम–सा गया। न जाने क्यों? मैं देखता रहा अपने चारों ओर। हर तरफ बिजली के नीले–पीले बल्ब जलते बुझते, जगमग करते जुगुनुओं की तरह।

रात का सारा तिलिस्म दिन के उजाले में कट जाता है–मैंने सोचा।

समझ में कुछ नहीं आया कि इस द्वीप के पास कैसे पहुंच गया। वहां बिल्कुल अंधेरा था किन्तु दूर से नीले–पीले जगमग करते बल्बों की धीमी–सी रोशनी से मैं केवल द्वीप ही देख पा रहा था और कुछ नहीं।

"कहा न, मुझे बचाइए..."

फिर वही महिला स्वर जिसने मुझे उत्सुकता से इस ओर बढ़ने के लिए प्रेरित किया था। मैंने नाव से द्वीप में टटोल–टटोल कर देखने की कोशिश की किंतु कुछ दिखाई न दिया। मेरी जिज्ञासा बढ़ गई और मैंने चप्पू चला कर द्वीप के आस–पास घूमना चाहा। द्वीप के उस भाग

की ओर जहां घास उग आया था, मेरी नाव अभी पहुंची ही थी कि कहीं दूर पर घास हिलाया और झकझोरा जा रहा था। मुझे वहां किसी के खड़े होने की छाया सी दिखने लगी। मैंने एकदम कहा--"कौन है?" और इसी के साथ मेरी नाव वहां पहुंच गई।

"मुझे बचा ले"—महिला ने इस तरह कहा जैसे उसकी यह बात गले में ही अटक गई हो। इसके बाद उस ने एक गिड़ गिड़ाहट–भरी आवाज में फिर ऐसी ही याचना की।

"तुम कौन हो?"—कहते हुए मुझे लगने लगा कि मेरी आवाज घबराहट से थरथराई हुई है। मेरे होंठ कांपने लगे। सारा शरीर थरथराने लगा। सोचने लगा कि यह मैं क्या देख रहा हूं। शायद इसलिए कि मैंने अपनी सारी उम्र में ऐसा दृश्य कभी नहीं देखा था। एक अपरिचित महिला की आवाज और वह भी झील के सुनसान द्वीप–समूह पर। अकेली इस अन्धेरी रात में। यह क्या है? कहीं यह जासूस महिला तो नहीं जो मुझे अकेले इस काली स्याह रात्रि में अपनी गिरफ्त में करना चाहती है।

मेरे भीतर सचमुच ही डर के अन्धेरे ने आंखों की रोशनी को उड़ा दिया। कुछ दिखाई ही नहीं दिया कि मैं कहां हूं? दिल की धड़कन तेज होने लगी। मैंने हड़बड़ी और घबराहट में एक बार फिर उस घास वाले द्वीप की ओर ध्यान से देखा। लेकिन वहां कुछ नहीं था। कुछ नहीं।

"डरते क्यों हो?"

"आखिर तुम कौन हो?"—मैंने चिल्ला कर कहा।

"फिर वही प्रश्न?"–आवाज से नहीं पहचाना क्या? उसने इस तरह कहा जैसे मेरे मुंह पर थू करके थूक दे मारा। लेकिन मैंने अपने आपको संयम में रख कर कहा--"हां पहचाना। तुम्हारा नाम?"

"नाम? नाम तो मेरा कुछ नहीं है। अलबत्ता मेरा रिश्ता पूछना चाहते हो तो जरूर कहूंगी।"—उसने पटर–पटर कहं दिया। मैंने सुना और कुछ न कह पाया। फिर भी मैंने यों ही पूछा--"कहो क्या रिश्ता है?"

"ओह, कैसे मूर्ख हो तुम? यह पूछना भूल गए क्या कि रिश्ता किसके साथ है?"--उसने एक बार फिर मेरी बुद्धिमत्ता पर प्रहार किया।

"हां, मैं सच ही भूल गया। कहो न, रिश्ता यदि है तो किसके साथ?"—मैंने अपनी भूल स्वीकार कर कहा।

"तुम जैसी मर्द जात के साथ मेरे कई तरह के रिश्ते हैं। मैं तो तेरी मां हूं, बहन भी। पुत्री हूं, पत्नी भी और सबसे अपवित्र रिश्ता जो मेरा तुम लोगों के साथ है, वह है एक पतिता का।"

"ऐसा मत कहो"—मेरे दिल से हूक सी निकल गई—"मेरे लिए तुम्हारा रिश्ता बहन समान है। किंतु तुम्हारा नाम भी तो कुछ होगा?"—मैंने कहा।

"क्या करोगे मेरा नाम जान कर। छोड़ो अब यह सब। मुझे अपनी नाव में गगरिबल के एक डुंगे तक ले जाओ।"—उसने फिर याचना भरे स्वर में कहा।

"माफ कीजिए, मुझ से ऐसा नहीं हो सकेगा। मैं टूरिस्टि—पुलिस को ले आऊंगा। वही तुम्हारी सहायता कर सकते हैं।"--मैंने अपने बचाव के तौर पर ऐसा कहा।

"इस समय पुलिस वाले मेरी कोई सहायता नहीं करेंगे।"

"क्यों?"

"क्योंकि वे उसके आदमी हैं।"

"किसके?"

"उसको तुम नहीं जानते।"

"शायद तुम्हारा पति होगा या अन्य कोई।"

"कुछ कह नहीं सकती, कौन है वह। किन्तु वह तुम्हारी जात का ही कोई है, इतना तो जरूर कहूंगी।"

"उसके साथ तो तुम्हारा कोई रिश्ता जरूर होगा।"

"होगा नहीं। है। मैंने कहा न हर औरत का मर्द–जात के साथ कोई–न–कोई रिश्ता है।"

"यदि वह मुझे रास्ते में पकड़े तो...इसीलिए कहा न कि मैं पुलिस

को ले आऊं।"

"मैं डरती हूं।"—उसने कातर आवाज में कहा—"मत कहो ऐसी बात।"

"तो बताओ, मैं क्या कर सकता हूं।"—मैंने कहा।

"जो एक भाई अपनी बहन के लिए कर सकता है।" --उसने फिर याचना भरी आवाज में कहा।

मैंने सुना और कुछ न कह पाया। उसके इस एक वाक्य से, मेरी सब बातें गले में ही अटक कर रह गई। समझ में कुछ नहीं आ रहा था, क्या करूं। सोचा, वह तो इसी संसार की रहने वाली है किंतु मैं उसके लिए बिल्कुल अजनबी था। मगर उसकी दिल को पसीजने वाली बातों से मेरी सोच रह–रह कर इधर–उधर भटक सा जाती और मेरे लिए यह फैसला करना कि अब मुझे क्या करना है, एक प्रश्न चिन्ह (?) बन कर मेरे मस्तिष्क के दरीचों से बाहर नहीं निकल पाया।

"मुझे इसको बचाना चाहिए"—आखिर थोड़ी देर बाद थक कर बैठते हुए मैंने सोचा। मैंने दोनों हाथों से चप्पू चला कर नाव उस घास वाले द्वीप के बिल्कुल सामने कर दी। अब मुझे बिजली के बल्बों की टिमटिमाहट में यह द्वीप बिल्कुल सामने दिखने लगा। यहां तीन गज से भी ऊंची घास उग आई थी। इस समय ऐसा लग रहा था कि यह छोटा सा खेत है जहां धान के पौधे उग आए हैं। वैसे तो दिन के उजाले में यह द्वीप डल की प्राकृतिक छटा को चार–चांद लगा रहा था, मुझे ऐसा ही महसूस होने लगा और मुझे याद आया पिछले दो दिनों का वह दृश्य जब सूरज की तपती धूप में यहां से ही विदेशी सैलानियों के दो युगल दम्पति पानी में छलांग लगा कर तैरते, फिर वापस इसी द्वीप की ओर आकर अपने–आपको हरे–भरे घास में छिपाए एक–दूसरे के बाहुपाश में खो जाते थे---नंगे। उनको इस तरह देख कर मेरे अंग–अंग में सिरहन–सी दौड़ गई थी। भला यह मैं क्या देख रहा हूं। झील में बसे इस छोटे से संसार में इस तरह की आजादी। फिर भी मैंने सोचा कि विभिन्न देशों से लोग यहां आकर अपने–अपने देश की संस्कृति,

वहां के रहन–सहन आदि की परछाइयां छोड़ जाते हैं और यहां के हांजी–लोग इसको अपनी आंखों में समेट कर इनके साथ घुल मिल जाते हैं–अस्थायी तौर पर! कुछ दिनों या महीनों के लिए। बस, पैसा कमाने के कई छल हैं और यह भी उनमें से एक! विदेशी सैलानियों को छोड़िए, अपने भारत से आए हुए सैलानियों को देख कर यह कहना पड़ता है कि इनको मद्रासी के साथ मद्रासी, बंगाली के साथ बंगाली और पंजाबी के साथ पंजाबी बनना पड़ता है। इसके अतिरिक्त और न जाने क्या–क्या!

"रूक क्यों गए..."

महिला ने कहा और मेरी तंद्रा एकदम टूट गई। मैंने चौंक कर उसकी ओर देखा किन्तु बिजली की टिमटिमाहट में केवल उसका मुंह ही साफ दिखायी दिया। उसका सारा बदन घास से ढका हुआ था।

"रूक क्यों जाऊँ"—मुझे बहुत गुस्सा आया। मैंने उसको कोई जवाब नहीं दिया। एक तो कमबख्तिन ने मुसीबत में डाला है, तिस पर भी वह मुझ पर हुकूमत चला रही है। दरअसल उसके प्रति मेरे मन में सहृदयता, क्षमाशीलता और सहानुभूति के जो फूल उगने वाले थे, वे सब औंधे गिर कर मिट्टी में राख हो गए। उसकी कातर और गहराई हुई आवाज के सामने मैंने एक भाई की तरह समर्पण किया। एक ऐसा भाई जो किसी भी पाप का भागीदार न था किंतु अब जो कुछ भी मैं कर रहा हूं, वह पाप नहीं तो और क्या है। घुप अंधेरा! बिजली के बल्बों की टिमटिमाहट में इस तरह यहां आना ताकि कोई देख न ले, सुन न पाए और बाद में उसको अपनी नाव में बिठा कर घर ले जाना। वह भी चोरी–छिपे; हर–एक की निगाहें बचा कर, हौले–हौले। इस बीच यदि कुछ हो गया तो मुझ पर झूठा आरोप, मारपीट, लांछन, थू–थू और न जाने क्या–क्या तमगे मिलेंगे।

मैंने नाव को द्वीप से लगाकर चप्पू को इसमें सम्भाल कर रखा। फिर उठा और एक ही छलांग में दोनों कदम इस द्वीप पर रखे। घास मेरी कमर की ऊँचाइयों तक लग रहा था। मैंने सामने की ओर देखा

लेकिन महिला का मुख–मण्डल गायब। मैंने ध्यान से एक बार फिर देखा किन्तु वहां कुछ भी नहीं था। बहुत गुस्सा आया उस पर। आश्चर्य भी तो कुछ कम नहीं हुआ। कैसी औरत हैं यह। एक तो मुझे यहां आने के लिए कहा––अपने बचाव के लिए। तिस पर भी अपने–आपको घास में छिपाती है। आखिर यह क्या माजरा है।–मैंने अपने आपसे सोचाा और आगे की ओर चल दिया–बिना देखे, बिना जाने। मैं इतना घबराया हुआ था कि दिल की धड़कनें मुझे छलांगे लगाती और धमकती हुई सुनाई दे रही थीं। उन कुछ एक क्षणों में ही मुझे यह समझनें में देर न लगी कि मेरी यह सारी घबराहट का कारण आंखों के सामने आने वाला दृश्य था। फिर भी मैं घास को ठेलता हुआ आगे की ओर बढ़ता गया–उस भयानक अन्धेरे में। कुछ ही क्षणों में मेरे कदम एकाएक रुक से गए और मैंने किसी के नंगे बदन का स्पर्श–सा महसूस किया।

"ओह"–मेरे मुंह से एकदम निकल गया। मैंने आंखें खोल कर ध्यान से देखा। हां, यह तो वही महिला थी–नंगी। कपड़े के नाम पर उसके सिर पर केवल स्कार्फ बंधा हुआ था। मुझे देख कर उसने सिर झुकाया। फिर घास के झुंड की ओट में अपने गुप्तांग छिपाने की हर सम्भव कोशिश करने लगी।

यह देख मैं हक्का बक्का सा होकर रह गया। मैं कुछ भी कह नहीं पाया। शायद अचानक आये दृश्य को समेंटने के लिए आंखों को मोहलत चाहिए। पल, दो पल की मोहलत। इस बीच महिला ने अपने आपको घास में इस तरह छिपाने की कोशिश की कि उसका मुंह भी दिखाई नहीं दे पाया।

जिस क्षेत्र के आसपास वह मुझे पहले दिखाई दी थी, उस पर घास कटा हुआ था। इधर–उधर तिनके अस्त–व्यस्त। बीच में एक बैग था जिसके आस पास शराब की बोतलें पड़ी हुई थीं। पास में ही सर्फ से धुली हुई एक सफेद चादर! इस पर निरोध के खाली पकेट। कघीं, ब्रा एवं अन्य प्रसाधन की चीजें भी वहीं तहस–नहस की हालत में।

"तुम यहां आए हो तो मेरा उद्धार हो गया। तुम्हारे इस अहसान

का बदला मैं कब चुका पाऊँगी?"–घास की ओट से महिला का स्वर। मैंने सुना और अपने स्थान पर पहले की तरह स्थिर रहा।

"तुम तो मेरे पास आ गए लेकिन मैं तुम्हारे पास कैसे आ सकती हूँ"–उसकी हिचकियों भरी आवाज।

"क्यों? क्या बात है?"

"बात तो कुछ जरूर है, लेकिन कहने से दिल की धड़कन तेज हो रही है।"

"क्या मतलब?"

"मतलब यह कि इस वक्त मेरे मन की तरह तन भी नंगा है।"

"अच्छा तो यह बात है?"

"हां कुछ ऐसा ही समझो।"

"कपड़े कहां है?"

उसने कोई जवाब नहीं दिया।

"मेरा मतलब है तुम घर से इसी तरह यहां....."

"तुम यहां फिर कैसे आई?"

"पास की चादर में लिपटी हुई, एक शिकारा में।"

"शाम के सात बजे बाद वह मुझे यहां लाया।"

"कौन?"

"मैं तो उसका नाम नहीं जानती।"

"चेहरे मोहरे से भी नहीं।"

"ओह, खुदा के वास्ते ऐसा मत पूछिए।"

"जाहिर है कि तुम झील की रहने वाली नहीं हो। यदि ऐसा होता तो उसके साथ यहां कभी नहीं आती।"

"तुम मुझे गलत समझते हो। मैं तो इसी झील की कमलिनी हूं।"

"कमलिनी होकर भी तुम्हारे ऊपर इस तरह के दाग।"

"इसमें मेरा क्या दोष। साफ–सुथरे पानी से भरे झील के इस सुखी संसार को जब आप जैसी इन्सान–जात, पैसे के लोभ में आकर

औरों की गन्दगी से नहीं बचा सकी तो इसमें कई तरह की घास उगनी शुरू हो गई, वातावरण–प्रदूषित हो गया, सदियों से पलने वाली मछलियों का नामो–निशान मिट गया और यहां तक कि झील अब सीमित होकर रह गया भला बताइए, कमलिनी इससे बच सकती थी?"

"तुम्हारा कहना सत्य है। मगर मेरे कहने का मतलब तुम समझीं नहीं।"

"मैं सब समझ गई। छोड़िये, अब इसको जान कर क्या करोगे?"

"क्यों नहीं कर सकता। मैं उसे भले लोगों के संसार में एक पल के लिए भी नहीं रहने दूंगा।"

"यही तो तुम्हारी गलतफहमी है। अब यह भले आदमियों का संसार नहीं रह गया है।"

"तुम यह कैसे कह सकती हो?"

"मैं भी तो इसी संसार की बेटी हूं न। इसलिए। झील की नस–नस पहचानती हूं।"

"झील तो संसार नहीं होता।"

"किन्तु झील में बसने वाले लोगों का तो अपना संसार होता है।"

"ऐसे कह रही हो जैसे कोई दार्शनिक कह रहा है।"

"तुमको ऐसा ही लग रहा होगा। हूं–सुनिए, मुझ पर थोड़ी सी मेहरबानी कर पहनने के लिए कुछ कपड़े दीजिए ताकि मैं तुम्हारे पास आ सकूं। मैं नंगी हूं।"

"जानता हूं। लो यह चादर। ओढ़ लो इसे"–मैंने चादर को उठाते हुए कहा।

"नहीं, मत छुओ इसे"–उसने एक हल्की–सी चीख मार कर कहा–"यह गंदी है। इस पर कई लाल छीटें पड़े हुए है। शराब और खून दोनों के।"

एकाएक मैं सचेत हो गया। मैंने चादर की ध्यान से देखा।

वह मैली थी। लाल–लाल छींटों से लथपथ। मैंने उसको छुआ नहीं। केवल इतना सोचने लगा कि मैं इसके लिए कपड़े कहां से ले आऊं। इसने मुझे बुरी तरह फंसाया है। फिर भी मैंने कहा–"कपड़ा तो मेरे पास कोई नहीं है। मैं क्या कर सकता हूं।"

"कुछ तो करना ही पड़ेगा।"–वह आजिजी से बोली।

मैंने सुना और अधिक मुश्किल में पड़ा हुआ महसूस किया। सोचा कि चलो अपने कपड़े उतार कर उसको पहनने के लिए दे दूं और बाद में अपने शरीर के गुप्तांग घास से ढक लूं। यही तो एक सूरत है वरना वह इस संकट से नहीं बच सकती और न मुझे उससे छुटकारा मिलता। न वह मुझे छोड़ सकती न ही मैं उसको बचा पाता।

मैंने पहले घास काट कर उसको गठरी–नुमा बांध लिया। फिर अपना शर्ट–पतलून उतार कर उसकी ओर बढ़ाया। बाद में अपने सारे गुप्तांग को इस गठरी से छुपा लिये। इस बीच उसने मेरे कपड़े पहन लिए।

मेरे कपड़ो को पहने वह उस घास के झुंड में से बाहर निकल कर बिल्कुल मेरे सामने आई। उसका सिर झुका हुआ था। मेरे तन को घास की गठरी से बंधा देख कर वह लजा गई। मैंने उसकी ओर देख कर कहा–"बस, अब जल्दी कीजिए। नाव में बैठ कर खुद नाव चलानी पड़ेगी। यदि मैं नाव चलाऊं तो कोई पकड़ सकता है।"

उसने मेरी बात सुनी और सीधे पग बढ़ाती हुई वहां से चल दी–बिना कोई चीज उठाए। मैं भी उसके पीछे–पीछे हो लिया। वह मेरे बगल में बैठ कर पूरे विश्वास के साथ चप्पू उठा कर उनको चलाने लगी–बिल्कुल फुर्तीले अंदाज से। शायद वह नाव में अपने–आपको उड़ाना चाहती थी। और मैं मूक–सा बैठा आस–पास देखने लगा–ऊपर आसमान तारों से भरा हुआ, सामने वाली पहाड़ी पर स्थित शंकराचार्य मंदिर में गुम्बद पर चमकता एक बिजली का बल्ब, दूर से बिजली के बल्ब जगमग करते हुए। हां उस हाऊस बोट की एक लम्बी कतार और बाई ओर नेहरू पार्क।

"बताइए"—उसने चप्पू चलाते हुए कहा और मैंने उसकी ओर ऐसे देखा जैसे आंखों ही आंखों में तोल रहा था।

"इस रास्ते से कहां जा रही हो?"—मैंने कहा।

"घर।"

"वह कहां है?"—कह कर मैंने उसकी ओर एक बार फिर ध्यान से देखा। मुझे लगा कि शायद मैं उसको इस तरह पहली बार देख रहा हूं। मेरी उस एक दृष्टि में क्या था कि वह अचानक हत्प्रभ–सी होकर रह गई। नाव नेहरू–पार्क के करीब पहुंच गई और वहां के बिजली–जूल की रोशनी का सैलाब उस पर आ गिरा। उसका मुख–मण्डल दमक उठा। मैंने अपनी कश्मीर यात्रा के दौरान कई कश्मीरी रूप–सुंदरियों को देखा था। एक से बढ़ कर एक। सुन्दर और सजीली। किंतु इसमें एक अलग आकर्षण दिखाई दिया। पैंतीस–छतीस साल की उम्र में भी वह धधकती हुई जवानी रखती थी। लाल गाल, गठीला बदन, काले बाल–कमर से भी नीचे। मांसल बाहें और हथेलियां–चौड़ी–चपटी। हट्टी–कट्टी और ऐसी देह वाली कि लगता था कोई बीस या पच्चीस वर्ष की उम्र है इसकी। फिर भी उसकी आंखें डबडबाई हुई, कुछ–कुछ उदास और स्याह कटोरों में धंसी हुई। सिर पर स्कार्फ होने के कारण मुझे इतना ही दिखाई दिया कि उसके कान नंगे हैं, गला खाली और बांहों में एक चूड़ी भी नहीं—

"यही तो झील का असली रास्ता है"—उसने कहा।

"मैं जानता हूं।"—मैं बोला—"लेकिन तुमने तो यह नहीं बताया कि घर कहां है?"

"फिर वही प्रश्न"—उसने मेरी ओर तुनक कर कहा।

"प्रश्न को दोहराना पाप नहीं।"—मैंने जिद पकड़ ली।

"तो समझिए, मेरा कोई ठिकाना नहीं। कभी मेरा घर नेहरू पार्क के पास होता है तो कभी गगरिबल के पास। कभी पाथशाई बाग में रहती हूं तो कभी तेलबल के आस–पास। आखिर मैं तो एक डूंगे में रहती हूं जो, जहां मेरा पति चाहे, जा सकता है"—उसने खुल कर

कहा।

"नाम?"

"नाम भी बताना है? चलिए, इसी संसार का है।"

"लेकिन कुछ तो जरूर होगा।"

"बताने से कोई लाभ नहीं होगा।"

"अच्छा छोड़िए। मगर एक बात।"

"कहिए।"

"घास के उस द्वीप पर कैसे पहुंची थी?"

"पहुँची नहीं, बल्कि पहुँचाई गई थीं।"

"वहां कौन लाया था?"

"कहा न, मैं उसको नहीं जानती। वैसे उसको जानने से भी कोई लाभ नहीं। ऐसे लोगों को मैं गंदगी की जड़ मानती हूं।"

"गंदगी की जड़। मैं समझा नहीं।"

"समझने की कोशिश कीजिए।"—वह मुस्कुराई।

"समझ में कुछ नहीं आया। जरा तुम ही खुल कर कहो।"—मेरा आग्रह।

उसने आकाश की ओर देखा। ऐसा लग रहा था कि वह कुछ सोच रही है। कहा—"मैंने वे दिन भी देखे हैं जब डल–झील का पानी साफ–साफाफ था–चांदी की तरह। उस समय यहां हर चीज की बहुतायत थी। सब्जियां, जुआर, नदरू, मछलियां, और न जाने क्या–क्या। कमल के फूल का मत पूछिए। वे इतने उग आते कि क्या कहें। उनको देख कर सब की आंखें निहाल सी हो जाती थीं। लेकिन अब..."

"अब क्या हुआ?"—मैंने पूछ ही लिया।

"अब यह झील नहीं, गंदगी का ढेर बन गई है। यहां की जो भी चीज है, जानदार हो या ठोस, उसे अपवित्रता के कीड़ों ने अन्दर से खोखला कर रखा है। यहां प्रतिवर्ष गंदगी का स्वागत होता है—पैसों के लालच में आकर, पत्नी, मां या बेटी की इज्जत बेच कर। इससे बढ़ कर तुमको क्या खुल कर कहूँ।"—वह आवेश में तो थी ही कहते–कहते

उसका गला रूंध गया और वह एकाएक फूट–फूट कर रोने लगी।

मैंने उसकी ओर देखा। उसकी इन बातों को जितना समझने की कोशिश की उतना ही वे मेरी समझ से परे रहीं। अब की बार मुझ में यह जानने की जिज्ञासा बढ़ गई कि यदि डल–झील गंदी हो गई है तो बार–बार गंदी होने पर भी गंदगी का स्वागत क्यों किया जाता है। कौन हैं वे लोग जो प्रतिवर्ष इसको गंदगी से भर देते हैं? मैंने उसको यों ही कहा–"गंदगी तो इन्सान ही फैलाते हैं।"

"खुदा ने इन्सान को दो जात में बांट दिया है।"

"नर–नारी।"

"पुरुष–स्त्री, औरत–मर्द।"

"अब समझा, तुम्हारा आरोप मर्द–जात पर है।"

"अब तुमने सही समझा।"

"देसी या विदेशी...।"

"दोनों का इसमें समान सहयोग रहा है।"

"वह कैसे?"

"एक का प्रोत्साहन और दूसरे का अनुचित लाभ।"

"किन्तु सब पर निरपराध आरोप नहीं लगाया जा सकता।"

"मैं कैसे कह सकती हूं, सभी का व्यवहार ऐसा है।"

"किन्तु यहां इस संसार में ऐसा नहीं होना चाहिए था।"–मैं पश्चाताप की स्थिति में बोला–"इसके लिए सब को एक जुट होकर एक ही आवाज में विरोध करना चाहिए।"

"किन्तु जिस अंदाज में तुम कहते हो, उसी अंदाज में, फरिश्तों की तरह, पहले हर कोई कहता है, लेकिन बाद में वही प्रलाप..."

मैं हक्का–बक्का मूर्खो की तरह उसकी ओर ताकता रहा। वह भी मेरी ओर ऐसे ही देखती रही। इस सारे नाटक का अंत मुझ जैसे व्यक्ति पर ही हो जाएगा, यह मैंने कभी सोचा भी न था। मुझमें उसके प्रति सहानुभूति थी किन्तु इसका रास्ता उसने 'टूरिस्ट' की मिसाल देकर बंद कर दिया। वैसे इसमें उसका क्या दोष। बात तो साफ है। जिस

तन लागे, वही तन जाने। मुंह फुलाए बिना मैं एक अपराधी सा उसके सामने एक विशालकाय मूर्ति की तरह खड़ा था, वह भी तब तक, जब तक कि वह कुछ न कुछ कहने पर मजबूर नहीं हो गई–"क्यों क्या हुआ?"

"कुछ नहीं, बस योंही।"

"छोड़िए, मगर एक बात..."

"कहिए।"

"आपका नाम?"

"नाम? मानो तुम्हारे इस संसार से उसका कोई वास्ता नहीं।"

"तो फिर तुम बाहर के हो?"

"कुछ ऐसा ही समझो।"

"टूरिस्ट?"

मैं कुछ नहीं कह सका।

"तो तुम्हारा इरादा मुझे बहला–फुसला कर किसी दूसरे नर्क में धकेल देना तो नहीं"––उसने बेहद नफरत से कहा।

"क्या बकती हो?"

"बकती नहीं, सच कहती हूं। हर टूरिस्ट पहले ऐसा ही कहता है। फिर अपने एजेंट के जरिए सब्ज–बाग दिखा कर हमें रौंद जाता है।"

मैंने उसकी ओर देखा और उसकी गाल पर एक चपत जड़ दी। उसने गाल को दाएं हाथ से सहलाया, फिर मेरी ओर घूर–घूर कर देखने लगी। इस बीच नाव गगरिबल के घाट पर लगे एक डूंगे के पास रूक गई।

"तुम्हारा बहुत–बहुत शुक्रिया"–उठ कर वह झट अपने उस डूंगे में उतर कर मेरी ओर देखने लगी। किंतु ज्यों ही मैं चप्पू चला कर वापस चल दिया तो वह लगभग चीखती हुई आवाज में कहने लगी–"कहां जा रहे हो? कपड़े वापस नहीं लेने हैं?"

"मुझे नहीं चाहिए।"

"क्यों?"

"क्योंकि मैंने अपना फर्ज अदा किया।"

"वह मैं मानती हूं? फिर भी कुछ समय के लिए यहां आइए।"

"मैं अब तुम्हारे पास नहीं आ सकता।"

"क्यों?"

"क्योंकि मैं एक टूरिस्ट हूं।"

इस बीच मेरी नाव बहुत आगे निकल चुकी थी और रात के उस स्याह अंधेरे में वह दिखाई नहीं पड़ रही थी, न डूंगे के अन्दर न ही इसके पतवार पर। नाव के चप्पू चलाते हुए उस समय मुझे कहीं से भी बिजली के बल्बों की टिमटिमाहट दिखाई न दी।

डल के बसे–बसाए संसार में यह मेरा आखिरी दिन था।

('भाषा'–दिसम्बर–1982)

❑